

# समस्य

भारत में राष्ट्रीयता की भावना का विकास तब तक संभव नहीं है, जब तक खान-पान एवं वैवाहिक संबंधों पर जातीय भेदभाव बने रहेंगे।

अप्रैल-जून, 2023 • नई दिल्ली



महात्मा ज्योतिबा फुले

11 अप्रैल, 1827—28 नवंबर, 1890

---

# नाहि तो जनम नसाई

हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व को इसका भलीभांति एहसास था कि अपनी विशेषताओं के कारण भारत एक ऐसा मुल्क है जो अपने आप में एक महाद्वीप की तरह है। उसकी सांस्कृतिक रंगारंगी अनेकों भाषाएं, धर्म, पहनावे, खानपान, रीति-रिवाज उसे एक अनोखा मुल्क बनाते हैं। चुनावों के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान और उसके बाद संविधान के निर्माण के दिनों में देश की इस विविधता को हर तरह संरक्षित और बरकरार रखने पर जोर दिया मगर साथ ही हमारे संविधान निर्माताओं को इसकी पूरी अनुभूति थी कि किसी भी जनतांत्रिक देश में अगर उसके नागरिकों को समान अधिकार और अवसर प्राप्त न हों तो ये जनतंत्र के मूल सिद्धांत के विरुद्ध होगा और इसीलिए स्पष्ट शब्दों में संविधान की प्रस्तावना में उसके उद्देश्यों का निर्धारण करते हुए इसकी व्याख्या कर दी गई और जनतंत्र के इस मूल सिद्धांत को कि कानून की नज़र में हर नागरिक बराबर है और धर्म, नस्ल, जाति आदि के आधार पर उसके साथ कोई भेदभाव नहीं किया जा सकता, उसका मौलिक अधिकार स्वीकार किया गया।

लेकिन सभी नागरिकों को समान अधिकार उपलब्ध कराने में ऐसी अड़चनें भी थीं जिन्हें केवल कानून बनाने से दूर नहीं किया जा सकता था। इस संदर्भ में संविधान सभा में होने वाली बहसें इसका सबूत हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक रंगारंगी कस्टम, रीति-रिवाज की विषमता के कारण देश में हमेशा से विभिन्न समुदायों में शादी-ब्याह, तलाक, संपत्ति के बंटवारे आदि से संबंधित मान्यताओं में समानता नहीं थी। इसलिए यह महसूस किया गया कि इन विशेष परिस्थितियों में समान नागरिक संहिता का अमल में आना एक विकासवादी, निरंतर प्रक्रिया और प्रयास से ही संभव है। चुनावों के आर्टिकल 44 में यह स्पष्ट कर दिया गया कि राज्य समान नागरिक संहिता लागू करने के लिए प्रयास करेगा।

इस समय देश में विभिन्न समुदायों में जो नागरिक कानून प्रचलित हैं उनमें प्रायः महिलाओं को बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता और ऐसी प्रथाएं व्याप्त हैं जो हर दृष्टि से समान अधिकार के जनतांत्रिक सिद्धांत के विरुद्ध हैं इसलिए उनमें सुधार की व्यर्थ कोशिशों के बजाय समान नागरिक संहिता का लागू करना सच्चे जनतंत्र का तकाजा है। मगर दुर्भाग्य से इस दिशा में जब भी कोई पहल की गई उसका पुरजोर विरोध हुआ है।

प्रधानमंत्री के एक वक्तव्य के बाद यह मामला एक बार फिर चर्चा में है और विभिन्न मंचों पर बहस का सिलसिला चल निकला है। चूंकि यह बहस एक ऐसे समय पर शुरू हुई है जब लोकसभा चुनाव सर पर हैं इसलिए बहुत से विश्लेषक और बुद्धिजीवी इसे राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित बता रहे हैं और उनके अनुसार यह ध्रुवीकरण की राजनीति है क्योंकि मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड इसका सख्ती से विरोध करता रहा है। इन विश्लेषकों का यह भी कहना है कि मौजूदा सरकार ने नौ साल के अपने कार्यकाल में इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया और स्वयं उसका लॉ कमिशन 2018 में अपनी रिपोर्ट में इसको अनावश्यक बता चुका है। इस बार मुसलमानों के अलावा दीगर समुदायों और आदिवासी लीडरों और संस्थाओं की तरफ से इसका विरोध किए जाने की घोषणा के बाद अब यह भी कहा जाने लगा है कि आदिवासियों आदि को इसके दायरे से बाहर रखने पर भी विचार किया जा रहा है। इन परिस्थितियों में मुसलमानों में इस भावना का जन्म लेना स्वाभाविक है कि सरकार की नीयत साफ नहीं है जिसका लाभ उनके रूढ़िवादी धार्मिक लीडर उठा सकते हैं।

गौर कीजिए कि एक अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दा किस तरह सामाजिक तनाव का कारण बन सकता है अगर सरकार इस सिलसिले में वास्तव में गंभीर है तो सबसे पहले उसे इस संदर्भ में अपने विभिन्न प्रस्तावों पर आधारित मसौदा जिसका अभी तक नामोनिशान तक नहीं है अवाम के सामने लाना चाहिए और संसद के साथ-साथ विभिन्न मंचों पर विभिन्न समुदायों, संस्थाओं, विद्वानों, धार्मिक गुरुओं और विश्लेषकों के साथ इस ढंग से तर्क-वितर्क का आरंभ करना चाहिए कि लोगों को यह लगे कि यह कोई राजनीतिक हथकंडा नहीं है बल्कि समय की एक बहुत बड़ी जरूरत इसको पूरा करने की सच्ची और ईमानदार कोशिश है। और अगर ऐसा हो तो निश्चित रूप से समाज के हर वर्ग का भरपूर समर्थन प्राप्त होगा।

---

## 2 • समरथ

अप्रैल-जून, 2023



## ओमप्रकाश वाल्मीकि

साहित्यकार

### जूता

हिकारत भरे शब्द चुभते हैं  
त्वचा में  
सुई की नोक की तरह  
जब वे कहते हैं—  
साथ चलना है तो कदम बढ़ाओ  
जल्दी-जल्दी  
जबकि मेरे लिए कदम बढ़ाना  
पहाड़ पर चढ़ने जैसा है  
मेरे पांव जख्मी हैं  
और जूता काट रहा है

वे फिर कहते हैं—  
साथ चलना है तो कदम बढ़ाओ  
हमारे पीछे-पीछे आओ  
मैं कहता हूँ—  
पांव में तकलीफ है  
चलना दुश्वार है मेरे लिए  
जूता काट रहा है  
वे चीखते हैं—  
भाड़ में जाओ  
तुम और तुम्हारा जूता  
मैं कहना चाहता हूँ—  
मैं भाड़ में नहीं  
नरक में जीता हूँ  
पल-पल मरता हूँ  
जूता मुझे काटता है

उसका दर्द भी मैं ही जानता हूँ  
तुम्हारी महानता मेरे लिए स्याह अंधेरा है।  
वे चमचमाती नक्काशीदार छड़ी से  
धकिया कर मुझे  
आगे बढ़ जाते हैं।  
उनका रौद्र रूप—  
सौम्यता के आवरण में लिपट कर  
दार्शनिक मुद्रा में बदल जाता है  
और, मेरा आर्तनाद  
सिसकियों में  
मैं जानता हूँ  
मेरा दर्द तुम्हारे लिए चींटी जैसा  
और तुम्हारा अपना दर्द पहाड़ जैसा  
इसीलिए, मेरे और तुम्हारे बीच  
एक फ़ासला है  
जिसे लम्बाई में नहीं  
समय से नापा जाएगा।

### ठाकुर का कुआं

चूल्हा मिट्टी का  
मिट्टी तालाब की  
तालाब ठाकुर का।  
भूख रोटी की  
रोटी बाजरे की  
बाजरा खेत का  
खेत ठाकुर का।  
बैल ठाकुर का  
हल ठाकुर का  
हल की मूठ पर हथेली अपनी  
फसल ठाकुर की।  
कुआं ठाकुर का  
पानी ठाकुर का  
खेत-खलिहान ठाकुर के  
गली-मुहल्ले ठाकुर के  
फिर अपना क्या ?  
गांव ? शहर ? देश ?

---

# अराजकता का व्याकरण

डॉ. भीमराव अंबेडकर

---

## //

भारत को अपने संविधान को अपनाने के महीनों पहले, इसके मुख्य वास्तुकार बी.आर.अंबेडकर चिंताओं से घिरे थे। वह भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के झूलते पालने में खड़े थे और अन्य संस्थापक सदस्यों की तुलना में निजी तौर पर ज्यादा बेहतर जानते थे कि भारत गंभीर जन्मजात दोषों के साथ पैदा होगा। हमारा समाज बारीकी तक वर्गीकृत गैरबराबरी पर आधारित समाज था, जिसने खुद को एक ऐसा संविधान दिया जो कहता है कि हम सभी समान हैं। लेकिन हम जानते थे, सब बराबर नहीं हैं। इन्हीं चिंताओं से घिरे बाबा साहब अंबेडकर द्वारा संविधान सभा के अपने अंतिम भाषण में उनकी तीन चेतावनियाँ आज भी प्रतिध्वनित क्यों होती हैं? 25 नवंबर, 1949 के दिन उन्होंने अराजकता के व्याकरण को छोड़ने, नायकों की पूजा से बचने और सिर्फ राजनीतिक लोकतंत्र की दिशा में काम करने के बजाए, सामाजिक लोकतंत्र की दिशा में भी काम करने की बात कही। प्रस्तुत हैं उनके भाषण के अंश :

26 जनवरी 1950 को, भारत एक स्वतंत्र देश होगा। उसकी स्वतंत्रता का क्या होगा? क्या वह अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखेगा या फिर वह इससे खो जाएगी? यह पहला विचार है जो मेरे दिमाग में आता है। ऐसा नहीं है कि भारत कभी एक स्वतंत्र देश नहीं था। मुद्दा यह है कि वह एक बार अपनी स्वतंत्रता खो चुका है। क्या वह इसे दूसरी बार भी खो देगा? यह ऐसा विचार है जो मुझे भविष्य के लिए सबसे अधिक चिंतित करता है।

भारत ने एक बार पहले भी अपनी स्वतंत्रता खोई है, इस तथ्य से ज्यादा मुझे यह तथ्य अधिक चिंतित करता है कि वह स्वतंत्रता उसने अपने कुछ लोगों के विश्वासघात के कारण खोई है। मुहम्मद-बिन-कासिम द्वारा सिंध पर आक्रमण के समय राजा दाहिर के सैन्य कमांडरों ने मुहम्मद-बिन-कासिम के एजेंटों से रिश्वत ले ली और अपने स्वयं के राजा के पक्ष में लड़ने से मना कर दिया। वह जयचंद ही था जिसने भारत पर आक्रमण करने और पृथ्वी राज चौहान से लड़ने के लिए मुहम्मद गौरी को भारत में आमंत्रित किया और उससे, उसकी और सोलंकी राजाओं की सहायता का वादा किया। जब शिवाजी हिंदुओं की मुक्ति के लिए लड़ रहे थे, तो अन्य मराठा राजवंश और राजपूत राजा मुगल सम्राटों के साथ मिलकर लड़ाई लड़ रहे थे। जब ब्रिटिश, सिख शासकों को नष्ट करने की कोशिश कर रहे थे, उस समय उनके प्रमुख कमांडर गुलाब सिंह चुप थे और सिख राज्य को बचाने में मदद नहीं कर रहे थे। सन् 1857 में जब भारतीय

जनता के बड़े तबके ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ स्वतंत्रता की लड़ाई घोषित की, तो सिख तमाशबीनों की तरह खड़े होकर चुपचाप देखते रहे।

क्या इतिहास स्वयं को दोहराएगा? यह ऐसा विचार है जो मुझे चिंतित करता है। यह चिंता इस तथ्य के बोध से और अधिक गहरी है कि जाति और पंथ के रूप में हमारे पुराने शत्रुओं के अतिरिक्त, हमारा साथ बहुत से राजनीतिक दलों व उनके विविध एवं विरोधी राजनैतिक पंथों के साथ भी जुड़ने जा रहा है। क्या भारतीय अपने देश को अपने पंथ से ऊपर रखेंगे या वे देश के ऊपर पंथ स्थापित करेंगे? मुझे नहीं पता। लेकिन यह बहुत निश्चित है कि यदि दलों ने देश से ऊपर पंथ स्थापित किया, तो हमारी स्वतंत्रता को दूसरी बार संकट में डाल दिया जाएगा और संभवतः यह हमेशा के लिए खो जाएगी। इस परिस्थिति में हम सभी को दृढ़ता से हमारे रक्त की आखिरी बूँद के साथ हमारी स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए।

26 जनवरी 1950 को, भारत इस अर्थ में एक लोकतांत्रिक देश होगा कि उस दिन से भारत में जनता की सरकार, जनता के द्वारा और जनता के लिए होगी। वही विचार मेरे मन में आता है कि उसके लोकतांत्रिक संविधान का क्या होगा? क्या वह इसे बनाए रखने में सक्षम होगा या फिर वह इससे खो जाएगा? यह दूसरा विचार है जो मेरे दिमाग में आता है और मुझे पहले की तरह चिंतित करता है।

---

## 4 • समरथ

अप्रैल-जून, 2023

### लोकतांत्रिक प्रणाली :

ऐसा नहीं है कि भारत को नहीं पता था कि लोकतंत्र क्या है। एक समय ऐसा भी था जब भारत गणराज्यों से भरा था, और यहाँ तक कि जहाँ भी राजतंत्र थे, वे या तो निर्वाचित थे या सीमित थे। वे कभी पूर्ण नहीं थे। और ऐसा भी नहीं है कि भारत संसद या संसदीय प्रक्रिया को नहीं जानता था।

“बौद्ध भिक्षु संघों का एक अध्ययन यह खुलासा करता है कि वहाँ न केवल संसद थी (संघों के लिए संसद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था) बल्कि संघ आधुनिक समय में ज्ञात संसदीय प्रक्रिया के सभी नियम जानते और मानते थे। उनके पास बैठक व्यवस्था, प्रस्तावना, विश्लेषण एवं समाधान, कोरम, अनुदेश, वोटों की गिनती, बैलेट द्वारा मतदान, निंदा प्रस्ताव, नियमितीकरण आदि के बारे में नियम थे। हालांकि संसदीय प्रक्रिया के इन नियमों को बुद्ध द्वारा संघ की अनेक अलग-अलग बैठकों में लागू किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि संघों ने उन्हें अपने समय में देश में काम करने वाले राजनीतिक विधानसभाओं के नियमों से उधार लिया होगा।”

भारत ने इस लोकतांत्रिक प्रणाली को खो दिया। क्या वह इसे दूसरी बार भी खो देगा? मुझे नहीं पता। लेकिन भारत जैसे देश में यह काफी संभव है। जहाँ लंबे समय से इस्तेमाल की जाने वाली लोकतांत्रिक प्रणाली को नया माना जाए, वहाँ लोकतंत्र को तानाशाही में बदल जाने का खतरा होता है।

### तीन चेतावनियां :

यदि हम लोकतंत्र को केवल एक रूप में बनाए रखने के बजाए उसे एक तथ्यात्मक रूप देना चाहते हैं तो हमें क्या करना चाहिए?

...मुझे लगता है कि संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसका खराब होना निश्चित है क्योंकि जिन लोगों को इसे लागू करने के लिए बुलाया जाता है, वे बहुत बुरे होते हैं। कोई संविधान चाहे कितना भी बुरा क्यों न हो, वह तब अच्छा साबित हो सकता है जब उसे लागू करने के लिए जिन लोगों को बुलाया जाए वे अच्छे लोग हों। किसी संविधान का कार्य करना पूरी तरह से संविधान की प्रकृति पर निर्भर नहीं करता है। संविधान केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के अंगों की ही व्यवस्था कर सकता है। राज्य के उन अंगों का कामकाज जिन कारकों पर निर्भर करता है वे लोग और राजनीतिक दल हैं जिन्हें वे अपनी इच्छाओं और अपनी राजनीति को पूरा करने के लिए अपने उपकरण के रूप में स्थापित करेंगे। कौन कह सकता है कि भारत के लोग और उनके उद्देश्य कैसे हैं या वे उन्हें प्राप्त करने के लिए क्रांतिकारी तरीकों को प्राथमिकता देंगे? यदि वे क्रांतिकारी तरीके अपनाते हैं, संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, यह कहने के लिए किसी भविष्यवक्ता की आवश्यकता नहीं है कि यह विफल हो जाएगा। इसलिए, लोगों और उनकी पार्टियों द्वारा निर्भाई जाने वाली भूमिका के संदर्भ के बिना संविधान पर कोई भी निर्णय पारित करना व्यर्थ है।

मेरे फैसले में सबसे पहले हमें सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के संवैधानिक तरीकों को मजबूती से पकड़कर इन्हें पूरा करना चाहिए। इसका मतलब है कि हमें क्रांति के खूनी तरीकों को छोड़ देना चाहिए। और इसका मतलब यह है कि हमें सामाजिक अवज्ञा, असहयोग और सत्याग्रह की विधि को छोड़ देना चाहिए। जब आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के संवैधानिक तरीकों के लिए कोई रास्ता नहीं छोड़ा गया था, तो असंवैधानिक तरीकों के लिए पर्याप्त औचित्य था। लेकिन जहाँ संवैधानिक तरीके खुले हैं, इन असंवैधानिक तरीकों के लिए कोई औचित्य नहीं हो सकता है। ये विधियाँ अराजकता के व्याकरण के अलावा कुछ भी नहीं हैं और जितनी जल्दी वे छोड़ दी जाती हैं, उतना ही हमारे लिए बेहतर है।

दूसरी चीज हमें ‘जॉन स्टुअर्ट मिल’ के उस कथन को अवश्य याद रखना चाहिए जो उन्होंने लोकतंत्र के रखरखाव में दिलचस्पी रखने वाले सभी लोगों को सावधानी बरतने के

लिए दिया है कि, “किसी भी महान व्यक्ति के पैरों पर अपनी आज्ञादी न रखें, और न ही उस पर इतना विश्वास करें जो उसे आपके संस्थानों को नष्ट करने में सक्षम बनाता है।”

उन महान पुरुषों के लिए आभारी होने में कुछ भी गलत नहीं है, जिन्होंने देश के लिए अपने अपने पूरे जीवनकाल भर सेवाएँ दी हैं। लेकिन कृतज्ञता की भी सीमाएँ हैं। जैसा कि ‘आयरिश पैट्रियट डैनियल ओ कोनेल’ ने कहा है कि “कोई भी व्यक्ति अपने सम्मान के मूल्य पर कृतज्ञ नहीं हो सकता, कोई भी स्त्री उसकी पवित्रता के मूल्य पर कृतज्ञ नहीं हो सकती और कोई भी राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता के मूल्य

पर कृतज्ञ नहीं हो सकता।” यह सावधानी किसी भी अन्य देश के मामले की तुलना में भारत के मामले में कहीं अधिक आवश्यक है। भारत में भक्ति, भक्ति मार्ग या नायक-पूजा दुनिया में किसी भी अन्य देश की तुलना में राजनीति में अप्रत्याशित एवं अद्वितीय भूमिका निभाती है।

धर्म में भक्ति आत्मा के उद्धार का मार्ग हो सकता है लेकिन राजनीति में भक्ति या नायक-पूजा गिरावट और तानाशाही के लिए एक निश्चित मार्ग है।

तीसरी चीज हमें केवल राजनीतिक लोकतंत्र के साथ संतुष्ट नहीं होना है। हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को भी एक सामाजिक लोकतंत्र बनाना चाहिए। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक सही ढंग से सक्रिय और सक्षम नहीं हो सकता जब तक कि इसमें सामाजिक लोकतंत्र का आधार न हो।

#### सामाजिक लोकतंत्र :

सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? यह जीवन का एक साधन है जो जीवन के सिद्धांतों के रूप में स्वतंत्रता, समानता और आपसी बंधुत्व को पहचानता है। स्वतंत्रता, समानता और आपसी बंधुत्व के इन सिद्धांतों को अलग-अलग चीजों के रूप में नहीं माना जा सकता। वे एक संघ के रूप में कार्य करते हैं कि एक को दूसरे से अलग कर देना अर्थात् लोकतंत्र के उद्देश्य को हराना है।

स्वतंत्रता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता है, समानता को स्वतंत्रता से अलग नहीं किया जा सकता है और न ही इन दोनों को आपसी बंधुत्व से अलग किया जा सकता है। समानता के बिना स्वतंत्रता, कई लोगों पर कुछ लोगों की सर्वोच्चता को जन्म देगी। स्वतंत्रता के बिना समानता व्यक्ति की पहल को मार देगी। आपसी बंधुत्व के बिना भी स्वतंत्रता कई लोगों पर कुछ की सर्वोच्चता को जन्म देगी। आपसी बंधुत्व के बिना, स्वतंत्रता और समानता प्राकृतिक चीजें नहीं बन पाएंगी और तब उन्हें लागू करने के लिए किसी ताकत की आवश्यकता पड़ेगी।

हमें इस तथ्य को स्वीकार करते हुए आरम्भ करना चाहिए कि भारतीय समाज में दो चीजों का पूर्ण अभाव है इनमें से एक है समानता। भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि में वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत के आधार पर एक समाज है जिसमें एक तरफ कुछ ऐसे लोग हैं जिनके पास बहुत अधिक धन है और दूसरी तरफ काफी ऐसे लोग भी हैं जो बहुत गरीबी में जी रहे हैं।

26 जनवरी 1950 को, हम विरोधाभासों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीतिक जीवन में हमारे पास समानता होगी और सामाजिक व आर्थिक जीवन में हमारे पास असमानता होगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति-एक मत के सिद्धांत और एक मत-एक मूल्य के सिद्धांत को मान्यता देंगे जबकि हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन में, हम, हमारे सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के कारण, एक व्यक्ति-एक मूल्य के सिद्धांत से इनकार करते रहेंगे। कब तक हम विरोधाभासों के इस जीवन को जीना जारी रखेंगे? कब तक हम अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में समानता से इन्कार करते रहेंगे? यदि हम इसे लंबे समय तक अस्वीकार करते हैं, तो हम अपने राजनीतिक लोकतंत्र को संकट में डालकर ऐसा करेंगे। हमें इस विरोधाभास को जल्द से जल्द संभवतः दूर करना चाहिए अन्यथा असमानता से पीड़ित लोग उस राजनीतिक लोकतंत्र की संरचना को ही खत्म कर देंगे जो संसद को श्रमसाध्य रूप से निर्मित करना है।

दूसरी बात जिसे हम चाहते हैं, वह है आपसी बंधुत्व के सिद्धांत की मान्यता। बंधुत्व का क्या अर्थ है? बंधुत्व का अर्थ है सभी भारतीयों के भीतर भाईचारे की भावना। यह वह सिद्धांत है जो सामाजिक जीवन को एकता और मजबूती प्रदान करता है। यह हासिल करना एक मुश्किल काम है। यह कितना मुश्किल है, इसे 'जेम्स ब्रीसे' द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के बारे में अमेरिकी कॉमनवेलथ पर अपने वॉल्यूम में दी गई संबंधित कहानी से महसूस किया जा सकता है। मैं खुद ब्रीसे के शब्दों में इस कहानी को बताने का प्रयास करता हूँ :

कुछ साल पहले अमेरिकन प्रोटेस्टेंट एपिस्कोपल चर्च को अपने ग्रंथों में संशोधन के लिए उसके त्रैवार्षिक सम्मेलन में अधिकृत कर लिया गया था। उस समय शॉर्ट वर्ड प्रार्थना को सभी लोगों की प्रार्थना के रूप में माना जाता था। प्रार्थना शुरू हुई, और एक प्रख्यात न्यू इंग्लैंड ज्ञानी ने 'ओ भगवान, हमारे राष्ट्र को आशीर्वाद दो' शब्दों से प्रार्थना शुरू की। इसे उस दिन दोपहर को स्वीकार किया गया, इस पल के पश्चात, इस बात को पुनर्विचार के लिए अगले दिन आगे बढ़ाया गया, जब आम जनों द्वारा राष्ट्र शब्द के लिए इतनी सारी आपत्तियां उठाई गईं,

जैसे कि इस शब्द से राष्ट्रीय एकता की पहचान को निश्चित किया जा रहा है, और बाद में इसके बजाय इन शब्दों को अपनाया गया, “हे भगवान, इन संयुक्त राज्यों को आशीर्वाद दें।”

उस समय अमेरिका में बहुत कम एकजुटता थी। जब यह घटना हुई तब अमेरिका के लोग यह नहीं सोचते थे कि वे एक राष्ट्र हैं। अगर संयुक्त राज्य के लोग यह महसूस नहीं कर सके कि वे एक राष्ट्र हैं, तो भारतीयों के लिए यह सोचना कितना मुश्किल है कि वे एक राष्ट्र हैं?

### एक बड़ी भ्रांति :

मुझे याद है कि जब भारतीय राजनैतिक बुद्धिजीवियों ने ‘भारत के लोगों’ की अभिव्यक्ति का विरोध किया था। उन्होंने ‘भारतीय राष्ट्र’ की अभिव्यक्ति पसंद की थी।

मेरा पक्ष है कि ऐसा मानने में कि हम एक राष्ट्र हैं, हम एक महान भ्रम को संजो रहे हैं। हजारों जातियों में विभाजित लोग एक राष्ट्र कैसे हो सकते हैं?

इस बात को जितनी जल्दी हम समझते हैं कि हम दुनिया के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक मायनों में अभी तक एक राष्ट्र नहीं हैं, हमारे लिए बेहतर है। और केवल तभी हम एक राष्ट्र बनने की आवश्यकता का महत्व समझेंगे और लक्ष्य को साकार करने के तरीकों के बारे में गंभीरता से सोचेंगे। इस लक्ष्य की प्राप्ति बहुत मुश्किल हो रही है—संयुक्त राज्य अमेरिका में जितनी अधिक कठिन रही उससे भी अधिक मुश्किल। संयुक्त राज्य में कोई जाति समस्या नहीं है। भारत में जातियां हैं और जातियां राष्ट्र विरोधी हैं। पहली बात, क्योंकि वे सामाजिक जीवन में विभाजन लाती हैं। वे राष्ट्रविरोधी इसीलिए भी हैं क्योंकि वे जाति और जाति के बीच ईर्ष्या और प्रतिपक्ष पैदा करती हैं। लेकिन अगर हम वास्तव में एक राष्ट्र बनना चाहते हैं तो हमें इन सभी कठिनाइयों को दूर करना होगा। आपसी बंधुत्व तभी कायम हो सकता है, जब कोई राष्ट्र हो। बंधुत्व के बिना, समानता और स्वतंत्रता रंगों की परतों से अधिक गहरी नहीं होगी।

ये उन कार्यों के बारे में मेरे प्रतिबिंब हैं जो हमारे सामने हैं। ये कुछ लोगों के लिए बहुत सुखद नहीं भी हो सकते हैं लेकिन यह कहने में कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि इस देश में राजनीतिक शक्तियाँ काफी समय के लिए एकाधिकृत रही हैं और कई लोग केवल बोझ ढोने के जानवर हैं, लेकिन साथ ही शिकार के जानवर भी हैं। इस एकाधिकार

ने उन्हें केवल भलाई की सम्भावनाओं से वंचित नहीं किया है, बल्कि इसने उन्हें जीवन के महत्व से भी दूर किया है। ये निचले और शोषित वर्ग शोषित होते-होते थक गए हैं। वे स्वयं को शासित करने के लिए अधीर हैं। इन निचले व शोषित वर्गों में आत्म-अनुभूति के लिए इस उत्तेजना को किसी वर्ग संघर्ष अथवा जाति युद्ध में परिवर्तित नहीं होने देना चाहिए। यह सदन के एक विभाजन का नेतृत्व करेगा और तब यह वास्तव में आपदा का दिन होगा। जैसा कि अब्राहम लिंकन ने कहा है कि “अपने आप में विभाजित एक सदन बहुत लंबे समय तक खड़ा नहीं रह सकता।” इसलिए जितनी जल्दी उनकी आत्म अनुभूति की आकांक्षाओं को जगह दी जाएगी उतना ही कुछ के लिए बेहतर है, देश के लिए बेहतर है, आज़ादी के रखरखाव के लिए बेहतर है और इस लोकतांत्रिक ढांचे की निरंतरता के लिए बेहतर है। यह केवल जीवन के सभी क्षेत्रों में समानता और आपसी बंधुत्व की स्थापना के द्वारा ही किया जा सकता है। यही कारण है कि मैंने उन पर इतना जोर दिया है।

मैं सदन को और आगे नहीं बढ़ाना चाहता हूँ। निःसंदेह स्वतंत्रता एक अत्यंत खुशी की बात है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस स्वतंत्रता ने हमारे ऊपर बड़ी जिम्मेदारियाँ भी डाली हैं। आज़ादी से पहले तक, हमने कुछ भी गलत होने का कारण ब्रिटिश शासन को बताया है यदि इसके बाद चीजें गलत होती हैं, तो हमें स्वयं को छोड़कर कोई भी दोषी नहीं होगा। और चीजों के गलत होने का खतरा बहुत अधिक है। समय तेजी से बदल रहा है। हम सहित अन्य लोग नई विचारधाराओं से जुड़ रहे हैं। वे लोगों द्वारा शासित सरकार से थक रहे हैं और वे लोगों के लिए सरकार बनाने को तैयार हैं और उदासीन भी हैं कि क्या यह लोगों की लोगों के द्वारा सरकार है? यदि हम संविधान को संरक्षित करना चाहते हैं, जिसमें हमने लोगों की, लोगों के लिए, और लोगों के द्वारा सरकार के सिद्धांत को स्थापित करने की माँग की है, तो हमें अपने रास्ते में आने वाली उन बुराइयों की पहचान करने में सुस्ती न दिखाने का संकल्प लेना होगा जो लोगों की, लोगों के लिए और लोगों के द्वारा सरकार के सिद्धांत को प्रेरित होने से रोकती हैं और उन बुराइयों को खत्म करने के लिए हमें कमजोर न पड़ने का संकल्प भी लेना होगा। यह देश सेवा करने का एकमात्र तरीका है। मुझे इससे बेहतर और कोई तरीका नहीं पता है।

# मनुस्मृति की वापसी

सुभाष गाताडे

//

अभी बहस जारी ही थी और यह मसला बहसतलब था कि ऐसी रचनाओं को आधुनिक युग की संवेदनाओं के मददेनजर किस तरह देखा जाए। क्या ऐसी रचनाओं का संपादन किया जाए या उन्हें बिल्कुल त्याग दिया जाए, उस पृष्ठभूमि में देश के अग्रणी केंद्रीय विश्वविद्यालय में शुमार काशी हिंदू विश्वविद्यालय का धर्मशास्त्र मीमांसा विभाग ऐसा प्रस्ताव लेकर उपस्थित हुआ, जिससे इस विवाद के थमने के बजाय और बढ़ने के ही आसार लग रहे हैं।

समय की निहाई अक्सर बेहद निर्मम मालूम पड़ती है। विश्व की वे क्लासिकीय रचनाएं—जिन्होंने ज्ञान के मोती बिखेरे हैं और जिन पर अक्सर बात होती रहती है—कब जबरदस्त विवाद का सबब भी बन जाएं, कहा नहीं जा सकता। ऐसे ही कल के अग्रणी विचारक, क्रांतिकारी, जिन्होंने युग को प्रभावित किया, कुछ मामलों में कब अपने ही समय की सीमाओं में कैद नजर आएं, इसकी भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

वरना ऐसा कहां संभव था कि दुनिया के महानतम नाटककारों में शुमार अंग्रेजी लेखक विलियम शेक्सपीयर, जो आज भी विश्व भर में सराहे जाते हैं और लोग उनके कलाम से ताकत हासिल करते हैं, अपने कथित 'यहूदी विरोध के लिए' (सामीवाद विरोध) आलोचना का शिकार बन जाएं। विशेषकर अपने बहुचर्चित नाटक मर्चेन्ट ऑफ वेनिस के 'खलनायक' शायलॉक के चित्रण को लेकर, या फ्रांसीसी क्रांति (1789) के सबसे प्रभावशाली राजनीतिक समूह के तौर पर जाने जाने वाले जैकोबिन, स्त्रियों के प्रति अपने संकीर्ण नजरिये के लिए आलोचना के घेरे में आए या गौतम बुद्ध, जिन्होंने राजपाट त्याग दिया और जो सत्य की तलाश में निकल पड़े थे, उन्हें भी महिलाओं को लेकर अपने उदगारों या रूख के लिए आज भी आलोचना झेलनी पड़े।

पिछले दिनों ऐसा की प्रसंग भारत में तारी हुआ जब तुलसी दास द्वारा रचित रामचरित मानस—जिसमें स्त्रियों और उत्पीड़ित जातियों के कथित तौर पर अपमानजनक चित्रण को लेकर बहस चल पड़ी; एक खेमा जहां इस बात को सिरे से खारिज कर रहा था, वहीं दूसरा खेमा उन सबूतों को एक के बाद तर्क पेश कर रहा था कि उसकी बात किस तरह सही है।

अभी बहस जारी ही थी और यह मसला बहस तलब था कि ऐसी रचनाओं को आधुनिक युग की संवेदनाओं के मददेनजर किस तरह देखा जाए? क्या ऐसी रचनाओं का संपादन किया जाए या उन्हें बिल्कुल त्याग दिया जाए, उस पृष्ठभूमि में देश के अग्रणी केंद्रीय विश्वविद्यालय में शुमार काशी हिंदू विश्वविद्यालय का धर्मशास्त्र मीमांसा विभाग ऐसा प्रस्ताव लेकर उपस्थित हुआ, जिससे इस विवाद के थमने के बजाय और बढ़ने के ही आसार लग रहे हैं।

प्रस्ताव था उस किताब की उपयोगिता को लेकर अनुसंधान करने का, जो मध्यकाल के पहले से रचित बताई जाती है और जो विगत एक सदी से अधिक समय से लगातार विवादों के केंद्र में रही है, यह किताब किस तरह 'दलितों एवं स्त्रियों को अपमानित ढंग से पेश करती है,' उसे रेखांकित करते हुए आंदोलन भी चले हैं।

'भारतीय समाज में मनुस्मृति की प्रयोज्यता'<sup>3</sup>—इस विषय पर अनुसंधान की योजना का यह प्रस्ताव, इस संस्थान के धर्मशास्त्र मीमांसा विभाग से पेश हुआ है, जहां पहले से ही प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अध्ययन के तहत मनुस्मृति की पढ़ाई होती है। इस संबंध में जारी अधिसूचना के मुताबिक इसके लिए केंद्र सरकार द्वारा इंस्टिट्यूशन ऑफ ऐमिनंस स्कीम के तहत प्रदत्त फंड का इस्तेमाल किया जाएगा। मालूम इस योजना के तहत देश के दस अग्रणी सार्वजनिक संस्थानों को एक हजार करोड़ रूपए तक की राशि रिसर्च और डेवलपमेंट के लिए दी जाने वाली है।

यह प्रस्ताव दो वजहों से सर्वथा अनुचित दिख रहा है—एक, ऐसे वक्त में जब तमाम सार्वजनिक विश्वविद्यालयों के अनुदानों में कटौती हो रही है और उन्हें अपने जरूरी खर्चे भी पूरे करने में जबरदस्त दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है, उस समय ऐसे



वायवीय मसले पर फंड दिया जा रहा है, जिस पर पहले भी काफी अध्ययन हो चुके हैं।

दूसरा, याद किया जा सकता है कि लगभग एक सदी पहले डॉ. आंबेडकर की अगुआई में आधुनिक समय में हुए पहले दलित विद्रोह में मनुस्मृति का बाकायदा एक सार्वजनिक समारोह में दहन किया गया था (25 दिसंबर 1927), जब डॉ. आंबेडकर ने उसे 'प्रतिक्रांति का सुसमाचार' घोषित किया था, तत्कालीन मुंबई प्रांत के महाड में संपन्न इस सत्याग्रह में सूबे के विभिन्न भागों से वहां पहुंचे हजारों दलितों और अन्य न्याय प्रेमियों ने हिस्सा लिया था। इस अवसर पर हुए सम्मेलन में इस संबंध में जिस प्रस्ताव को पढ़ा गया वह ध्यान देने योग्य है। इसे गंगाधर सहस्त्रबुद्धे नामक सामाजिक कार्यकर्ता ने पढ़ा था, इसमें कहा गया था—

“...इस सम्मेलन का यह स्पष्ट मत है कि मनुस्मृति, अगर हम उन श्लोकों पर गौर करें जिसमें शूद्र जातियों को अपमानित किया गया है, उसने उनकी प्रगति को बाधित किया है, उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गुलामी को स्थायी बनाया है... वह किसी भी रूप में धार्मिक या पवित्र किताब कहलाने लायक नहीं है। और इसी बात को जुबां देने के लिए, यह सम्मेलन ऐसी धार्मिक किताब का अंतिम संस्कार कर रहा है जिसने लोगों को विभाजित किया है और जिसने मानवता को नष्ट किया है।”

इस सत्याग्रह के 23 साल बाद जब भारत के संविधान को देश की जनता को सौंपा जा रहा था, तब संविधान की मसविदा समिति के प्रमुख डॉ. आंबेडकर ने ऐलान किया था कि इसे अपनाने के साथ 'मनु का शासन समाप्त हो गया है'। मराठी के अग्रणी विद्वान, लेखक और सार्वजनिक बुद्धिजीवी प्रोफेसर नरहर कुरुंदकर (1932-1982) ने मनुस्मृति को लेकर अपनी किताब में (जिसका अंग्रेजी अनुवाद मधुकर देशपांडे ने किया है, प्रकाशक, देशमुख एंड कंपनी, पुणे, 1993) में इसका विश्लेषण करते हुए एक महत्वपूर्ण बात जोड़ी थी।

उनके मुताबिक—अभी पिछले साल की बात है जब दिल्ली उच्च अदालत की न्यायाधीश प्रतिभा सिंह ने एक सार्वजनिक कार्यक्रम में मनुस्मृति की तारीफ करके विवाद को जन्म दिया था। 'जातिवाद और वर्गवाद' को बढ़ावा देने के लिए उनकी तीखी आलोचना हुई थी, दरअसल फिक्की द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में उन्होंने कहा था कि मनुस्मृति 'महिलाओं को सम्मानजनक दर्जा देती है'।

यह सोचना मासूमियत की पराकाष्ठा होगी कि बनारस के इस अग्रणी विश्वविद्यालय—जिसकी स्थापना आजादी के आंदोलन के

दौरान हुई थी—से जुड़े अकादमिक मनुस्मृति की अंतर्वस्तु या उससे जुड़े असंख्य विवाद आदि को लेकर परिचित नहीं होंगे, वे इस बात को लेकर स्मृतिलोप का शिकार हो गए होंगे कि संविधान मसविदा समिति के अध्यक्ष डॉ. आंबेडकर ने इस किताब का सार्वजनिक दहन क्यों किया था या क्या कहा था? और 21 वीं सदी की तीसरी दहाई में जबकि दुनिया भर में शोषित उत्पीड़ितों में एक नई रैडिकल चेतना का संचार हुआ है, जबकि 'ब्लैक लाइव्स मैटर' जैसे आंदोलनों ने विकसित मुल्कों के सामाजिक ताने बाने में एक नई सरगमी पैदा की है, उस वक्त अतीत के स्याह दौर की याद दिलाती इस किताब की प्रयोज्यता अर्थात एप्लीकेबिलिटी की बात करना, दुनिया में भारत की क्या छवि बनाएगा? निस्संदेह, मनुस्मृति की प्रयोज्यता की खोज का यह प्रयास एक तरह से न केवल भारत में सामाजिक समानता एवं उत्पीड़न विरोध के लिए जारी तमाम आंदोलनों को एक तरह से अवैध साबित करता है, उनको निरर्थक साबित करता है तथा साथ ही मनुस्मृति को नए सिरे से साफसुथरे ढंग से पेश करने की कवायद को नई वैधता प्रदान करता है।

निश्चित ही यह पूरी योजना संघ परिवार के हिंदुत्व वर्चस्ववाद के व्यापक चिंतन से मेल खाती है, आजादी के बाद जब संविधान का मसविदा बन रहा था तब इन्हीं ताकतों ने हर कदम पर उसका विरोध किया था। गोलवलकर और सावरकर, जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा के शीर्षस्थ नेतृत्व में थे, उनके वक्तव्य इस बात की बार-बार ताईद करते हैं। अगर हम संविधान निर्माण के दिनों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मुखपत्र कहे जाने वाले आर्गनाइजर को पलटें तो इसके कई प्रमाण मिलते हैं। पचास के दशक के मध्य में जब हिंदू कोड बिल के जरिये हिंदू महिलाओं को संपत्ति और उत्तराधिकार में सीमित अधिकार देने की नये सिरे से कोशिश चली, उस वक्त दिया गया उनका वक्तव्य इस संबंध में इनमें व्याप्त गहरी घृणा को साफ उजागर करता है। वे लिखते हैं—“जनता को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए तथा इस संतोष में भी नहीं रहना चाहिये कि हिंदू कोड बिल का खतरा समाप्त हो गया है। वह खतरा अभी ज्यों का त्यों बना हुआ है, जो पिछले द्वार से उनके जीवन में प्रवेश कर उनकी जीवन की शक्ति को खा जाएगा। यह खतरा उस भयानक सर्प के सदृश है, जो अपने विषैले दांत से दंश करने के लिए अंधेरे में ताक लगाए बैठा हो। (श्री गुरुजी समग्र खंड 6, पेज 64, युगाब्द 5106)

अपनी मौत के कुछ साल पहले नवा काल नामक मराठी अखबार में (दिनांक 1 जनवरी, 1969) छपे संघ के दूसरे सुप्रीमो गोलवलकर के विवादास्पद साक्षात्कार को देख सकते हैं जिसमें उन्होंने 'बौद्धिक' अंदाज में मनुस्मृति को सही ठहराया था और

शुद्धता-प्रदूषण पर टिकी वर्ण-जाति व्यवस्था को ईश्वरप्रदत्त घोषित किया था।

अपने इस साक्षात्कार में गोलवलकर ने साफ-साफ कहा था कि '...स्मृति ईश्वर निर्मित है और उसमें बताई गई चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी ईश्वर निर्मित है। किंबहुना वह ईश्वरनिर्मित होने के कारण ही उसमें तोड़ मरोड़ हो जाती है, तब भी हम चिंता नहीं करते। क्योंकि मनुष्य आज तोड़ मरोड़ करता भी है, तब भी जो ईश्वरनिर्मित योजना है, वह पुनःपुनः 'प्रस्थापित होकर ही रहेगी।' (पृ. 163 श्री गुरुजी समग्र खंड 9)।

अपने इस साक्षात्कार में गोलवलकर ने जाति-वर्णप्रथा की हिमायत करते हुए चंद बातें भी कही थीं जैसे ...अपने धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था सहकारी पद्धति ही तो है। किंबहुना आज की भाषा में जिसे 'गिल्ड' कहा जाता है और पहले 'जाति' कहा गया उनका स्वरूप एक ही है। ...जन्म से प्राप्त होने वाली चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में अनुचित कुछ भी नहीं है, किंतु उसमें लचीलापन रखना ही चाहिए और वैसा लचीलापन था भी। लचीलेपन से युक्त जन्म पर आधारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था उचित ही है।'

संघ से संबद्ध के.आर. मलकानी ने अपनी एक किताब द आरएसएस स्टोरी (इम्पेक्स इंडिया, दिल्ली, 1980) में इस बात का विशेष उल्लेख करते हैं कि गोलवलकर 'इसके पीछे दिए कारणों से सहमत नहीं थे कि हिंदू कानून को मनुस्मृति के साथ अपने पुराने रिश्ते को खत्म कर देने चाहिए।' (पृ. 73) इस बात में कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता कि गोलवलकर ने कभी भी अनुसूचित जाति और जनजातियों के कल्याण एवम् सशक्तिकरण हेतु नवस्वाधीन मुल्क के कर्णधारों ने विशेष अवसर प्रदान करने की जो योजना बनायीं, उनका कभी भी तहेदिल से समर्थन नहीं किया। आरक्षण के बारे में उनका कहना था कि यह हिंदुओं की सामाजिक एकता पर कुठाराघात है और उससे आपस में सद्भाव पर टिके सदियों पुराने रिश्ते तार-तार होंगे। इस बात से इंकार करते हुए कि निम्न जातियों की दुर्दशा के लिए हिंदू समाज व्यवस्था जिम्मेदार रही है, उन्होंने दावा किया कि उनके लिए संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करने से आपसी दुर्भावना बढ़ने का खतरा है। (गोलवलकर, बंच ऑफ थाट्स, पृ. 363, बंगलौर, साहित्य सिंधु, 1996) और सावरकर भी इस मामले में कहीं पीछे नहीं हैं। वह भी मनुस्मृति पर बुरी तरह आसक्त थे। संघ अग्रणियों की तरह उन्होंने भी नया संविधान बनाने का विरोध किया था और उसके स्थान पर मनुस्मृति को ही लागू करने की बात कही थी। 'हिंदुत्व' की संकल्पना को हिंदू धर्म से साफ अलग करने वाले सावरकर ने उन दिनों कहा था—

मनुस्मृति वह ग्रंथ है जिसे हमारे हिंदू राष्ट्र में वेदों के बाद

सबसे अधिक पूजनीय समझा जाता है और जो प्राचीन समय से हमारी संस्कृति, हमारे रिवाजों, चिंतन और आचरण का आधार रहा है। इसी ग्रंथ ने सदियों से हमारे राष्ट्र की आध्यात्मिक और दैवी कूच को संहिताबद्ध किया है। आज भी करोड़ों हिंदुओं द्वारा अपने जीवन और व्यवहार में जिन नियमों का अनुकरण किया जाता है वह मनुस्मृति पर आधारित हैं। आज मनुस्मृति ही हिंदू कानून है।

प्रश्न है आखिर मनुस्मृति के प्रति समूचे हिंदुत्व ब्रिगेड में इस किस्म का सम्मोहन क्यों दिखता है?

समझा जा सकता है कि मनुस्मृति का महिमामंडन जो 'परिवार' के दायरों में निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है उससे दोहरा मकसद पूरा होता है—एक, वह मनुस्मृति को उन तमाम 'दोषारोपणों से मुक्त' कर देती है जिसके चलते वह रैडिकल दलितों से लेकर तर्कशीलों के निशाने पर हमेशा रहती आई है। दूसरा, इससे संघ परिवारी जमातों की एक दूसरी चालाकी भरे कदम के लिए जमीन तैयार होती है जिसके तहत वह दलितों के 'असली दुश्मनों को चिह्नित करते हैं' और इस कवायद में 'मुसलमानों' को निशाने पर लेते हैं। वह यही कहते फिरते हैं कि मुसलमान शासकों के आने के पहले जाति प्रथा का अस्तित्व नहीं था और उनका जिन्होंने जमकर विरोध किया, उनका इन शासकों द्वारा जबरदस्ती धर्मांतरण किया गया और जो लोग धर्मांतरण के लिए तैयार नहीं थे, उन्हें उन्होंने गंदे कामों में धकेल दिया। आज ऐसे आलेख, पुस्तिकाएं यहां तक कि किताबें भी मिलती हैं जो मनुस्मृति के महिमामंडन के काम में मुब्तिला दिखती हैं।

प्रोफेसर के.वी.पालीवाल की एक किताब, मनुस्मृति और आंबेडकर इसका एक दिलचस्प उदाहरण पेश करती है। किन्हीं 'हिंदू रायटर्स फोरम' द्वारा प्रकाशित (मार्च 2007, नई दिल्ली) इस किताब के लेखक की हिंदुत्व वर्चस्ववादी फलसफे के साथ नजदीकी साफ दिखती है। प्रस्तुत फोरम द्वारा प्रकाशित किताबों में से 20 से अधिक किताबें इन्हीं प्रोफेसर साहब की लिखी हैं। इतना ही नहीं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से प्रत्यक्ष/अपरोक्ष जुड़े समझे जाने वाले सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली, से भी इनकी कई किताबें प्रकाशित हुई हैं। यहां 'मनुस्मृति और आंबेडकर' शीर्षक प्रस्तुत किताब की प्रस्तावना का एक हिस्सा उद्धृत किया जा सकता है जिसका शीर्षक है 'ये पुस्तक क्यों?' पृ. 3, जिसमें लिखा गया है—“यह पुस्तक उन लोगों के लिए लिखी गई है जिन्हें यह भ्रम है कि स्वायंभुव मनु की मनुस्मृति हिंदू समाज में आज व्याप्त जात-पात, ऊंच-नीच और छुआछूत का समर्थन करती है। इसका दूसरा उद्देश्य इस भ्रम को भी दूर करना है कि मनु, शूद्रों और स्त्रियों के विरोधी और ब्राह्मणवाद के समर्थक हैं। इसका तीसरा उद्देश्य आधुनिक युग के समाज सुधारक और दलित

नेता डॉ. भीमराव आंबेडकर द्वारा मनुस्मृति के संबंध में फैलाई गई भ्रांतियों को भी सप्रमाण दूर करना है।”

प्रस्तावना में यह भी बताया गया है कि किस तरह डॉ. आंबेडकर ने मनुस्मृति के विषय में वेद विरोधी मैक्समूलर द्वारा संपादित और जार्ज बुहलर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित मनुस्मृति के आधार पर लिखा जिसके कारण उन्हें अनेक भ्रांतियां हुईं। प्रस्तावना के मुताबिक मनुस्मृति के कुल 2,865 श्लोकों में से लगभग 56 फीसदी श्लोक मिलावटी हैं और किन्हीं डॉ. सुरेंद्र कुमार के हवाले से बताया गया है कि उन्होंने इन मिलावटों को ध्यान में रखते हुए 1985 में एक विशुद्ध मनुस्मृति तैयार की है। डॉ. के.डी.पालीवाल के मुताबिक यदि यह विशुद्ध मनुस्मृति, डॉ. आंबेडकर के लेखन से पहले, 1935 तक, अंग्रेजी में संपादित हो गई होती, और वर्णों की भिन्नता को आंबेडकर स्वाभाविक मान लेते, तो मनुस्मृति विरोध न होता। देखें, क्या यह कहना सही होगा कि डॉ. आंबेडकर ने मनुस्मृति का गलत अर्थ लगाया था क्योंकि वह कथित तौर पर संस्कृत भाषा के विद्वान नहीं थे, जैसा कि डॉ. पालीवाल कहते हैं। निश्चित ही नहीं।

ऐसी बेबुनियाद बातें उस महान विद्वान तथा लेखक के बारे में कहना—जिसकी अपने निजी पुस्तकालय में हजारों किताबें थीं, जिन्होंने कानून के साथ-साथ अर्थशास्त्र की भी पढ़ाई की थी तथा जिन्होंने विभिन्न किस्म के विषयों पर ग्रंथनुमा लेखन किया—एक तरह से उनका अपमान करना है।

अगर हम महज उनके द्वारा रची गई विपुल ग्रंथसंपदा को देखें तो पता चलता है कि वह 17 अलग-अलग खंडों में बंटी है, जिसका प्रकाशन सामाजिक न्याय और आधिकारिता मंत्रालय की तरफ से किया गया है। मनुस्मृति के बारे में डॉ. आंबेडकर की अपनी समझदारी उनकी अधूरी रचना रेवोल्यूशन एंड काउंटर रेवोल्यूशन इन ऐंशिअंट इंडिया (प्राचीन भारत में क्रांति और प्रतिक्रांति) में मिलती है। यहां इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि बुनियादी तौर पर उन्होंने इस मसले पर सात अलग अलग किताबों की रचना करना तय किया था, मगर उस काम को वह पूरा नहीं कर सके थे। यह ग्रंथमाला डॉ. आंबेडकर के इस बुनियादी तर्क के इर्द-गिर्द केंद्रित होने वाली थी जिसके तहत उन्होंने बौद्ध धर्म के उभार को क्रांति माना था और उनका साफ मानना था कि ब्राह्मणों द्वारा संचालित प्रतिक्रांति के चलते अंततः बौद्ध धर्म की अवनति हुई।

डॉ. आंबेडकर के मुताबिक मनुस्मृति एक तरह से हिंदू समाज जिस भारी सामाजिक उथल-पुथल से गुजरा है, उसका रिकॉर्ड है। वह उसे महज कानून की किताब के तौर पर नहीं देखते

हैं बल्कि आंशिक तौर पर नीतिशास्त्र और आंशिक तौर पर धर्म के तौर पर भी देखते हैं। अब प्रबुद्ध समुदाय के एक हिस्से की मनुस्मृति के बारे में राय बदल रही हो, मालूम नहीं, लेकिन डॉ. आंबेडकर इसके लक्ष्यों के बारे में स्पष्ट हैं और इसी वजह से मनुस्मृति को वह ‘प्रतिक्रांति का दस्तावेज’ कहते हैं।

इस बात की अधिक चर्चा नहीं हुई है कि किस तरह डॉ. आंबेडकर ने—मनु जिसने नीत्से को प्रेरित किया, उसने फिर हिटलर को प्रेरित किया—इनके बीच के विचारधारात्मक अपवित्र लिंक को उजागर किया था। और यह बात भी आम है कि हिटलर और मुसोलिनी ने संघ और हिंदू महासभा के मनुवादियों को प्रेरित किया—फिर चाहे सावरकर हों या मुंजे हों या हेडगेवार हों या गोलवलकर हों।

कम्युनैलिजम काम्बेट, मई 2000 का अंक, जिसे निम्न लिंक पर देखा जा सकता है, 10 : पृ. 72-87 चुनिंदा अंश निकाल कर उजागर किया है कि किस तरह नीत्से को हिंदू धर्म के दर्शन से प्रेरणा मिली थी।

डॉ. आंबेडकर के मुताबिक अपनी किताब एंटी क्राइस्ट में नीत्से ने मनुस्मृति की भूरी भूरी प्रशंसा की है और यह भी कहा है कि वह तो महज मनु के रास्ते पर चल रहे हैं, ‘जब मैं मनु की कानून की किताब पढ़ता हूँ, जो अतुलनीय बौद्धिक और बेहतर रचना है, यह आत्मा के खिलाफ पाप होगा अगर उसका उल्लेख बाइबिल के साथ किया जाए। आप तुरंत अंदाजा लगाएंगे कि उसके पीछे एक सच्चा दर्शन है, हर तरफ शैतान को संघने वाले यहूदी आचार्यों और अंधश्रद्धा का घालमेल नहीं है—वह किसी तुनकमिजाज मनोविज्ञानी को भी सोचने के लिए कुछ सामग्री अवश्य देता है।

आंबेडकर ने इस बात पर जोर दिया था कि किस तरह नात्सी ‘अपनी वंश परंपरा नीत्से से ग्रहण करते हैं और उसे अपना आध्यात्मिक पिता मानते हैं। नीत्से की एक मूर्ति के साथ खुद हिटलर ने अपनी तस्वीर खिंचवाई थी; वह इस उस्ताद की पांडुलिपियां अपने खास संरक्षकत्व में रखता है; नीत्से के लेखन के चुने हुए उद्धरणों को—नई जर्मन आस्था के तौर पर—नात्सी समारोहों में उद्धृत किया जाता है।’

इन तमाम विवरणों के बाद अब शायद मनु, नीत्से, हिटलर और हिंदुत्व वर्चस्ववादी फलसफे के बीच के रिश्तों को ढूंढना आसान हो जाए। मनु ने नीत्से को प्रेरित किया, नीत्से ने आगे चलकर हिटलर और मुसोलिनी को प्रेरित किया। हिटलर और मुसोलिनी के विचारों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा को प्रेरित किया और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा ने मनुस्मृति के साथ अपने नाभिनालबद्ध रिश्ते को बरकरार रखा।

साभार : <https://www.samayant.com/>

---

# आखिर क्यों न याद रखें भीमा कोरेगांव केस!

आकार पटेल

---

//

भीमा कोरेगांव ऐसा केस है जिससे साफ पता चलता है कि सरकार उन लोगों के खिलाफ क्या कुछ कर सकती है जो वंचित तबकों के खिलाफ सरकारी उत्पीड़न के विरोध में खड़े होते हैं। उन्हें सरकार के दुश्मन के तौर पर देखा जाता है और सरकार जब तक चाहे उन्हें जेल में रख सकती है।

इस महीने भीमा कोरेगांव मामले में पहली गिरफ्तारी के पांच साल पूरे हो गए हैं। इस केस में कुल 16 लोगों को गिरफ्तार किया गया था, जिसमें एक फादर स्टेन स्वामी भी थे, जिनकी हिरासत में मौत हो गई थी। गिरफ्तार किए गए ज्यादातर लोग अभी भी जेल में हैं। गिरफ्तार किए गए लोगों में से किसी को भी दोषी नहीं ठहराया गया है, और न ही किसी का हाथ हिंसा में होने की बात साबित हुई है, और न ही भीमा कोरेगांव से किसी का कोई नाता जोड़ा गया है।

अगर किसी को ऐसे कानून की मिसाल देनी हो जो बहुत ही कठोर हो और जिसमें सरकार की क्रूरता इस हद तक सामने आए कि इस कानून के तहत किसी पर मुकदमा चलाने के बजाए लोगों को बेमियादी मुद्दत के लिए जेल में रखने की मंशा जाहिर होती हो, तो उसके लिए भीमा कोरेगांव केस की मिसाल दी जा सकती है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि हम न तो इस केस को अपनी स्मृति से हटाएं और न ही उन्हें जो इस कानून के तहत जेल में डाल दिए गए हैं। यूएपीए के तहत दर्ज किए गए मामलों में से 10 फीसदी से भी कम मामले खत्म किए गए हैं और सभी दर्ज मामलों में से केवल एक चौथाई मामलों में ही दोषसिद्धि हुई है। इस विशेष मामले में, यानी भीमा कोरेगांव मामले में जिन लोगों को गिरफ्तार किया गया है उनमें शिक्षाविद, प्रोफेसर, वकील, कवि और सामाजिक कार्यकर्ता

शामिल हैं। इन सभी पर राष्ट्र के खिलाफ युद्ध छेड़ने का आरोप लगाया गया है।

जिस शख्स की शिकायत पर इन लोगों को गिरफ्तार किया गया था, उसका कहना है कि वह अपने हिंदुत्व के लिए एक सरल सा नियम अपनाता है। 'जिन भी चीजों से हिंदुओं की मदद होती है, उन्हें बचाया जाना चाहिए, बाकी को छोड़ दिया जाना चाहिए।' इस व्यक्ति की शिकायत के बाद ही भीमा कोरेगांव केस में, सरकार का तख्ता पलट करने और प्रधान मंत्री की हत्या की साजिश रचने के आरोपों को शामिल किया गया था।'

विधानसभा चुनावों में बीजेपी की हार के बाद इस केस को पुणे पुलिस से वापस ले लिया गया था। बाद में उद्धव ठाकरे ने 28 नवंबर 2019 को मुख्यमंत्री पद की शपथ ली। इसके कुछ समय बाद ही केंद्र सरकार ने महाराष्ट्र को बताया कि भीमा कोरेगांव केस की जांच 24 जनवरी 2020 को एनआईए को सौंप दी गई है। इससे कोई भी अंदाजा लगा सकता है कि केंद्र सरकार की मंशा क्या है। इस दौरान भीमा कोरेगांव के आरोपियों के साथ सरकारी ज्यादतियों की खबरें सामने आती रहीं हैं। इनमें से कुछ की सूची मीडिया वेबसाइट न्यूज लॉन्ड्री ने बनाई है।

फादर स्टेन स्वामी पारकिंसन बीमारी से पीड़ित थे, लेकिन उन्हें हफ्तों तक जेल में स्ट्रॉ से कुछ भी पीने की इजाजत नहीं दी गई। शोमा सेन आर्थराइटिस से पीड़ित हैं, और उन्हें देसी तरीके के कमोड पर बैठने में दिक्कत होती है। इस तकलीफ से निजात के लिए शोमा सेन की बेटी उनके लिए एक कुर्सी लेकर आई, लेकिन इसके इस्तेमाल की इजाजत नहीं दी गई।

सुरेंद्र गाडलिंग ने यूएपीए और आईटी एक्ट की कॉपी और उससे जुड़े नोट्स बनाने के लिए कुछ कागजों की मांग के साथ ही स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखित 4 किताबों की मांग की। लेकिन इस मांग को ठुकरा दिया गया। सरकार ने इसका यह कहते हुए विरोध किया कि उन्हें अनुमान नहीं है कि विवेकानंद की किताबें भारत में प्रतिबंधित हैं या नहीं।

इसके बाद अदालत ने किताबों को लाने की इजाजत दे दी, लेकिन जेल अधिकारियों ने अभी तक इन किताबों को गाडलिंग को नहीं सौंपा है। अदालत के आदेश के बावजूद उन्हें एक स्वेटर पहनने की इजाजत नहीं दी गई, और बताया गया कि सिर्फ थर्मल स्वेटर की ही इजाजत है न कि ऊनी स्वेटर की। इसके बाद जब उनकी पत्नी पूरी बांहों का थर्मल स्वेटर लेकर आई तो यह कहकर इनकार कर दिया गया कि सिर्फ आधी बांहों के स्वेटर की ही इजाजत है।

70 वर्षीय गौतम नवलखा का चश्मा जेल में चोरी हो गया। और इसके बिना वे एक तरह से नेत्रहीन से हो गए। लेकिन उन्हें तीन दिन तक दूसरा चश्मा बनवाने की अनुमति नहीं दी गई। उनके पार्टनर ने उनके लिए जेल में नया चश्मा भेजा लेकिन जेल प्रशासन ने इसकी इजाजत नहीं दी, जबकि इस बारे में जेल को पहले ही सूचित कर दिया गया।

जब गाडलिंग की मां का देहांत हुआ, तो उन्होंने अंतिम संस्कार में शामिल होने की अर्जी दी। लेकिन इसे यह कहकर खारिज कर दिया गया कि उनकी अर्जी के साथ मां की मौत का मृत्यु प्रमाणपत्र नहीं लगा है और इसके बिना एनआईए यह नहीं मान सकती कि उनकी वास्तव में मृत्यु हुई है। इसके बाद जब गाडलिंग ने अर्जी दी कि वे मां की स्मृति सभा में शामिल होना चाहते हैं, तो इसे भी यह कहकर खारिज कर दिया गया कि अर्जी के साथ सभा की प्रति नहीं लगाई गई है।

जब सुधीर धवाले के भाई की मौत हुई, तो उन्होंने अपनी अर्जी के साथ सभी दस्तावेज, अंतिम संस्कार के बाद होने वाली स्मृति सभा के निमंत्रण वाला कार्ड और मृत्यु प्रमाणपत्र भी लगाया। लेकिन इस अर्जी को भी यह कहकर खारिज कर दिया गया कि उन पर लगा आरोप 'गंभीर' है, इसलिए जमानत नहीं दी जा सकती। इसी तरह महेश राउत की बहन की शादी जब हुई तो वह जेल में ही विचाराधीन कैदी थे। जब मई 2021 में कॉलिन गॉन्जाल्विस की मां का देहांत हुआ तो उन्होंने कोई अर्जी दी ही नहीं ताकि उनके परिवारों को बाकी के परिवारों की तरह प्रताड़ना का सामना न करना पड़े।

फरवरी 2021 में द वाशिंगटन पोस्ट ने खबर दी कि जिस पत्र को सरकार बड़ा सबूत मान रही थी, वह तो रोना विल्सन के लैपटॉप में प्लॉट किया गया था, यानी उसे लैपटॉप जब्त करने के बाद उसमें डाला गया था। एक अन्य स्वतंत्र विश्लेषण से सामने आया कि इसे पत्र को लैपटॉप में डालने के लिए मालवेयर का इस्तेमाल किया गया। जो पत्र दिखाए गए, जिनमें वह पत्र भी शामिल था जिसमें कथित तौर पर मोदी की हत्या की साजिश का जिक्र था, उसे माइक्रोसॉफ्ट के उस वर्जन का इस्तेमाल कर लिखा गया है जो लैपटॉप की बरामदगी के वक्त तक विल्स के लैपटॉप में था ही नहीं। इस बात का भी कोई सबूत नहीं है कि इस दस्तावेज को या किसी हिडेन फोल्डर (छिपे हुए फोल्डर) को कभी खोला भी गया है।

अप्रैल 2021 में एक बड़ी डिजिटल फॉरेंसिक ने कहा कि उसके पास इस बात के 'पक्के और झुठलाए न जा सकने वाले' सबूत हैं कि विल्सन के कम्प्यूटर को हैक किया गया था। इसमें भीमा कोरेगांव की घटना के 11 दिन बाद यानी 11 जनवरी 2018 को फाइलों को डाला गया था।

इतना सब कुछ होने के बाद भी अधिकांश आरोपी जेल में ही हैं। भीमा कोरेगांव केस अकेला ऐसा मामला नहीं है जिसमें सरकार ने असहमति जताने वालों को निशाना बनाने के लिए कानून का दुरुपयोग किया हो। उमर खालिद को भी जेल में 1000 दिन से ज्यादा हो गए हैं। खालिद उन लोगों में सबसे मुखर आवाजों में से शामिल हैं जो सत्ताधारी पार्टी के कृत्यों के खिलाफ उठती हैं। जाहिर है कि आज के दौर में अल्पसंख्यक, गरीब और वंचित तबके के लोग अधिक सरकारी प्रताड़ना का शिकार हो रहे हैं।

इसमें कोई विवाद नहीं है। लेकिन भीमा कोरेगांव एक प्रतीकात्मक केस जरूर है। इससे पता चलता है कि सरकार उन लोगों के खिलाफ क्या कुछ कर सकती है जो वंचित तबकों के खिलाफ सरकारी उत्पीड़न के विरोध में खड़े होते हैं। और, उन्हें सरकार के दुश्मन के तौर पर देखा जाता है और सरकार जब तक चाहे उन्हें जेल में रख सकती है।

जब तक हममें से बाकी लोग सरकार के इस रवैये के खिलाफ आवाज नहीं उठाते, जब तक हम उन लोगों को भूलते रहेंगे जिन्हें निशाना बनाया गया है, तब तक यह व्यवहार जारी रहेगा। 'भीमा कोरेगांव 16' को नहीं भूलना चाहिए।

साभार : <https://www.satyahindi.com/>

# ज्योतिबा के जन्मदिन के अवसर पर

//

हिंदुस्तान में जाति विरोधी आंदोलन के मार्ग निर्माताओं में से एक हैं ज्योतिराव गोविंदराव फुले। अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले के साथ साझेदारी में ज्योतिबा ने अपना पूरा जीवन शूद्र, अतिशूद्र और महिलाओं के सामाजिक शोषण और भेदभाव की मुखालफत व बहुतरफा सामाजिक सुधार को समर्पित कर दिया था। साथ ही फुले अपने दौर में मजदूरों के उभरते संघर्षों से भी जुड़े रहे और नाइयों की हड़ताल व बंबई के मिल कर्मियों के प्रारंभिक संघर्षों से भी उनके ताल्लुक मिलते हैं।

ज्योतिराव गोविंदराव फुले का जन्म 11 अप्रैल 1827 को सतारा महाराष्ट्र, में हुआ था। उनका परिवार बेहद गरीब था और जीवन-यापन के लिए बाग-बगीचों में माली का काम करता था। ज्योतिबा जब मात्र एक वर्ष के थे तभी उनकी माता का निधन हो गया था। ज्योतिबा का लालन-पालन सगुनाबाई नामक एक दाई ने किया।

पिछड़े वर्गों व महिलाओं की शिक्षा, वैज्ञानिक और व्यावहारिक शिक्षा, विधवा पुनः विवाह व लैंगिक शोषण से मुक्ति, धार्मिक संस्कारों का सरलीकरण, मूर्तिपूजन का विरोध इत्यादि उनके कार्यों में से मुख्य थे। उन्होंने विधवाओं और महिला कल्याण के लिए काफी काम किया था। उन्होंने किसानों की हालत सुधारने और उनके कल्याण के भी काफी प्रयास किये थे। स्त्रियों की दशा सुधारने और उनकी शिक्षा के लिये ज्योतिबा और उनकी पत्नी ने मिलकर 1848 में स्कूल खोला जो देश का पहला महिला विद्यालय था। उस दौर में लड़कियों को पढ़ाने के लिए अध्यापिका नहीं मिली तो उन्होंने अपनी पत्नी सावित्रीबाई को पढ़ाना शुरू कर दिया और उनको इतना योग्य

बना दिया कि वो स्कूल में बच्चों को पढ़ा सके।

ज्योतिबा यह जानते थे कि देश व समाज की वास्तविक उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक देश का बच्चा-बच्चा जाति-पांति के बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता, साथ ही देश की नारियां समाज के प्रत्येक क्षेत्र में समान अधिकार नहीं पा लेतीं। उन्होंने तत्कालीन समय में भारतीय नवयुवकों का आवाहन किया कि वे देश, समाज, संस्कृति को सामाजिक बुराइयों तथा अशिक्षा से मुक्त करें और एक स्वस्थ, सुन्दर सुदृढ़ समाज का निर्माण करें।

उनका मानना था कि मनुष्य के लिए समाज सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इससे अच्छी ईश्वर सेवा कोई नहीं। वे पढ़ने-लिखने को कुलीन लोगों की बपौती नहीं मानते थे। मानव-मानव के बीच का भेद उन्हें असहनीय लगता था।

ज्योतिबा फुले बाल विवाह के खिलाफ थे साथ ही विधवा विवाह के समर्थक भी थे; वे ऐसी महिलाओं से बहुत सहानुभूति रखते थे जो शोषण का शिकार हुई हो या किसी कारणवश परेशान हो इसलिये उन्होंने ऐसी महिलाओं के लिये अपने घर के दरवाजे खुले रखे थे जहाँ उनकी देखभाल हो सके।

दलितों और निर्बल वर्ग को न्याय दिलाने के लिए ज्योतिबा ने 'सत्यशोधक समाज' स्थापित किया। उनकी समाजसेवा देखकर 1888 ई. में मुंबई की एक विशाल सभा में उन्हें 'महात्मा' की उपाधि दी। ज्योतिबा ने ब्राह्मण-पुरोहित के बिना ही विवाह-संस्कार आरंभ कराया और इसे मुंबई हाईकोर्ट से भी मान्यता मिली।

साभार : <https://mehnatkash.in/>

## उनका एक महत्वपूर्ण विचार

मनुष्य को आज़ाद होना चाहिए, यही उसकी बुनियादी ज़रूरत है। जब व्यक्ति आज़ाद होता है तब उसे अपने मन के भावों और विचारों को स्पष्ट रूप से दूसरों के सामने प्रकट करने का मौका मिलता है। लेकिन जब आज़ादी नहीं होती तब वह वही महत्वपूर्ण विचार, जनहित में होने के बावजूद दूसरों के सामने प्रकट नहीं कर पाता और समय गुजर जाने के बाद वे सभी लुप्त हो जाते हैं। आज़ाद होने से मनुष्य अपने सभी मानवी अधिकार प्राप्त कर लेता है और असीम आनंद का अनुभव करता है। सभी मनुष्यों को मनुष्य होने के जो सामान्य अधिकार, इस सृष्टि के नियंत्रक और सर्वसाक्षी परमेश्वर द्वारा दिए गए हैं, उन तमाम मानवी अधिकारों को ब्राह्मण-पंडा-पुरोहित वर्ग ने दबोच कर रखा है। अब ऐसे लोगों से अपने मानवी अधिकार छीन कर लेने में कोई कसर बाकी नहीं रखनी चाहिए।

# भारत में जब दो तरह का इतिहास होगा

अपूर्वानंद

//

कोलकाता यात्रा के दौरान इतिहासकार रोमिला थापर से भारत में और भारत के बारे में इतिहास लेखन पर चर्चा हो रही थी। उन्होंने कहा कि समय आ रहा है जब भारत के बारे में दो तरह का इतिहास होगा। एक वह जो भारत के लोगों द्वारा, भारत की शिक्षा संस्थाओं में लिखा और पढ़ा जाएगा और दूसरा वह जो भारत के बाहर के शिक्षा संस्थानों में भारत के विशेषज्ञों द्वारा लिखा और पढ़ा जाएगा। इन दोनों के बीच में कोई मेल न होगा। उदाहरण के लिए भारत में लिखे इतिहास में भारत की संस्कृति 12 हजार साल पुरानी बतलाई जाएगी और भारत के बाहर इसे लेकर कोई तयशुदा राय शायद न हो। उसी तरह भारत के भीतर के इतिहासकार हल्दी घाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप को विजयी बतलाएँगे और बाहर लिखे गए इतिहास में इसे आज के सत्ताधारियों की कल्पना के तौर पर दर्ज किया जाएगा।

यह कोई बहुत दूर की बात नहीं है। आज भी ऐसी किताबें लिखी जा रही हैं जिनके भारतीय संस्करण और विदेशी संस्करण में खासा अंतर होता है। ऐसे तथ्य या व्याख्या को जो आज के भारत के शासक दल और उसके आनुषंगिक संगठनों को नापसंद है, भारतीय संस्करण से हटा

इतिहास से, विशेषकर उससे जो हमारे लिए असुविधाजनक हो, हम किस प्रकार का रिश्ता बनाते हैं, इससे हम खुद अनावृत होते हैं। क्या हम औरंगजेब को अस्वीकार करते हैं और यह कहते हैं कि दारा शिकोह बेहतर शासक होता क्योंकि उसने 'हिंदू' परंपराओं के प्रति सहानुभूति दिखलाई थी? इससे मात्र हमारे आग्रहों का पता चलता है, औरंगजेब या दारा शिकोह के बारे में हमारी उत्सुकता का नहीं।

स्रोतों की समझ और उनकी जाँच, यह सब कुछ और उसके बाद एक ही तथ्य के बारे में प्रतियोगी स्थापना से जुझना, यह सब कुछ इस प्रशिक्षण का हिस्सा है। इसी के साथ हम यह भी सीखते हैं कि शोध के दौरान हम अपने इच्छित को येन केन प्रकारेण स्थापना में नहीं बदल देते। यह सिर्फ हाँ पर नहीं, हमारे हमपेशा अध्येताओं की स्वीकृति पर भी निर्भर है। शोध के बाद हम अपनी शुरुआती समझ में संशोधन भी करते हैं।

इतिहास सिर्फ इतिहास के सहारे नहीं किया जा सकता। मानवशास्त्र, जंतुशास्त्र, आनुवंशिकी, भाषा विज्ञान आदि

दिया जाता है लेकिन उसे विदेशी संस्करणों में पढ़ा जा सकता है। मात्र भारत के बारे में ही नहीं, किसी भी प्रसंग के बारे में यह फर्क देखा जा सकेगा।

रोमिला थापर की चिंता यह है कि आज के शोधार्थियों और अध्येताओं का इतिहास अध्ययन और लेखन का प्रशिक्षण पेशेवर आवश्यकताओं के मुताबिक न होकर विषय से इतर जरूरत से परिचालित होगा। यानी उनके पास इतिहास का बोध ही नहीं होगा। तथ्य संग्रह, तथ्य को तथ्य की सत्ता प्राप्त करने के लिए क्या क्या आवश्यकता होती है, प्रमाण इकट्ठा करने की पद्धति या पद्धतियों की समझ,

क्षेत्रों में उपलब्ध ज्ञान से उसका गहरा रिश्ता है। तो इतिहासकार को अन्य क्षेत्रों से जीवंत संपर्क बनाए रखना होता है। वहाँ किसी एक तथ्य की समझ भी नए शोध, नई खोज के आधार पर बदलती रहती है। इतिहासकार को उसे खाते में लेना होता है।

इतिहास गर्व और शर्म से परे होता है, वह समझने की चीज है। जो हमसे पहले किया जा चुका है, वह जिनका निर्णय है, वे न तो हमारे प्रति जिम्मेवार थे और न हम उनके प्रति जिम्मेवार हैं। इतिहास बोध इन सबसे मिलकर बनता है। वहन तो कीर्तन की वस्तु है, न धिक्कार की।

जब हम तय करते हैं कि हम मुगल काल को महत्व नहीं देंगे क्योंकि हमारे मुताबिक वे क्रूर थे और उस काल को लेकर न शोध करेंगे, न उसका अध्ययन, तो होगा क्या? वह काल तो रहेगा ही और उसे पढ़ने और उस पर शोध करने वाले भी होंगे ही, लेकिन वे भारत में नहीं और शायद भारतीय भी न होंगे। उसका ज्ञान भारत से बाहर चला जाएगा जैसे एक समय संस्कृत का ज्ञान भारत से बाहर ही विकसित होता रहा।

रोमिला थापर की तकलीफ समझी जा सकती है। इतिहास के अनुशासन का उल्लंघन करके इतिहास नहीं लिखा जा सकता। इतिहासकार एक दूसरे से मतभेद रखते हैं, बहस करते हैं लेकिन उस अनुशासन के भीतर। कोलकाता प्रतिक्षण प्रकाशन गृह में ही एक गोष्ठी में, जहाँ रोमिला थापर की एक किताब का बांग्ला अनुवाद लोकार्पित किया जा रहा था, प्रकाशक महोदय ने बतलाया कि पिछले विधानसभा चुनाव में बंगाल के मतदाताओं को यह कहकर उत्तेजित किया जा रहा था कि आज तक तुमने रोमिला का इतिहास पढ़ा है, जदुनाथ सरकार का नहीं।

हम कक्षा में छात्रों को पुस्तक और पुस्तकाभास का अंतर करना सिखलाते हैं। तर्क और तर्काभास का फर्क। ज्ञान के अनुशासन का सम्मान। इतिहास का बोध बना रहना आवश्यक है। लेकिन वह दूसरे ज्ञानानुशासन के बोध के बने रहने से जुड़ा हुआ है। अभी मालूम हुआ कि दिल्ली विश्वविद्यालय के अधिकारी अर्थशास्त्र में स्नातक स्तर के

पाठ्यक्रम से तीन ऐच्छिक पत्रों को हटाना चाहते हैं। ये पत्र हैं, 'अर्थव्यवस्था, राज्य और समाज', 'उत्पादन संबंध और भूमण्डलीकरण' और 'भेदभाव का अर्थशास्त्र'। अधिकारियों की समझ है कि इन पत्रों में मार्क्सवाद का प्रभुत्व है।

हाल में सरकार ने घोषणा की है कि अब आयुर्वेदिक मनोविज्ञान और मानस रोग में परास्नातक की उपाधि दी जा सकती है। उसके पाठ्यक्रम का अनुमान इससे किया जा सकता है कि मानसिक विचलन के लिए जिम्मेवार प्रेत बाधाओं को दूर करने की विधि सिखाने का प्रस्ताव है। अवसाद और बेचैनी के शिकार रोगियों का इलाज करने के लिए उल्लू या साही के पंखों या बाल जलाकर उसे मसालों बकरी के मूत्र के साथ अगर रोगी को सुँघाया जाए तो वह निरोग हो सकता है।

इस पाठ्यक्रम में रोगी को अकेले भूखा, प्यासा रखकर लगातार आध्यात्मिक प्रवचन सुनाया जाए, फिर रस्सी से बाँधकर खुजली वाले पौधे उसके शरीर पर फिराए जाएँ और उसे साँप से डराया जाए और इनमें से कुछ काम न करे तो जान से मारने की धमकी दी जाए।

हवाईअड्डे पर जहाज का इंतजार करते हुए रोमिला जी ने कहा कि भारत में अभी जो हो रहा है, वह चीन की सांस्कृतिक क्रांति जैसा ही है। उसने एक पूरी पीढ़ी को इसी प्रकार ज्ञान के बोध से वंचित कर दिया। जब उसका ज्वार उतरा तो चीन के विश्वविद्यालयों ने बाहर से विशेषज्ञ और विद्वानों को बुलाया ताकि वे इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान का बोध समाज में बहाल कर सकें। क्या आज से 10 या 20 वर्ष बाद हम भी यही करने को बाध्य होंगे?

इतिहास से, विशेषकर उससे जो हमारे लिए असुविधाजनक हो, हम किस प्रकार का रिश्ता बनाते हैं, इससे हम खुद अनावृत होते हैं। क्या हम औरंगजेब को अस्वीकार करते हैं और यह कहते हैं कि दारा शिकोह बेहतर शासक होता क्योंकि उसने 'हिंदू' परंपराओं के प्रति सहानुभूति दिखलाई थी? इससे मात्र हमारे आग्रहों का पता चलता है, औरंगजेब या दारा शिकोह के बारे में हमारी उत्सुकता का नहीं।

साभर : <https://www.satyahindi.com/>



# अमर शहीद अल्बर्ट पार्सन्स के दो खत

//

अल्बर्ट पार्सन्स मई दिवस के उन चार शहीदों में से एक थे, जिन्होंने मजदूरों के हक और जुल्म के खिलाफ आवाज़ उठाई, और कुर्बानी दी। जेल की काल कोठरी से अपनी पत्नी लुसी पार्सन्स व बच्चों को लिखे पत्र मानवता के प्रति उनके प्रेम, आशावाद और जिंदादिली की मिसाल हैं। उनके दो अविस्मरणीय पत्र प्रस्तुत हैं।

## पत्नी लुसी के नाम अल्बर्ट पार्सन्स का पत्र

मेरी प्रिय पत्नी!

आज सुबह हमारे बारे में हुए फैसले से पूरी दुनिया के अत्याचारियों में खुशी छा गयी है, और शिकागो से लेकर सेण्ट पीटर्सबर्ग तक के पूँजीपति आज दावतों में शराब की नदियाँ बहायेंगे। लेकिन, हमारी मौत दीवार पर लिखी ऐसी इबारत बन जायेगी जो नफरत, बैर, दोंग-पाखण्ड, अदालत के हाथों होने वाली हत्या, अत्याचार और इन्सान के हाथों इन्सान की गुलामी के अन्त की भविष्यवाणी करेगी। दुनियाभर के दबे-कुचले लोग अपनी क़ानूनी बेड़ियों में कसमसा रहे हैं। विराट मजदूर वर्ग जाग रहा है। गहरी नींद से जागी हुई जनता अपनी जंजीरों को इस तरह तोड़ फेंकेगी जैसे तूफान में नरकुल टूट जाते हैं। हम सब परिस्थितियों के वश में होते हैं। हम वैसे ही हैं जो परिस्थितियों ने हमें बनाया। यह सच दिन-ब-दिन साफ़ होता जा रहा है।

ऐसा कोई सबूत नहीं था कि जिन आठ लोगों को मौत की सजा सुनायी गयी है उनमें से किसी को भी हे-मार्केट की घटना की जानकारी थी, या उसने इसकी सलाह दी या इसे भड़काया। लेकिन इससे क्या फ़र्क पड़ता है। सुविधाभोगी वर्ग को एक शिकार चाहिए था, और करोड़पतियों की पागल भीड़ की खून की प्यासी चीख-पुकार को शान्त करने के लिए हमारी बलि चढ़ायी जा रही है क्योंकि हमारी जान से कम किसी चीज़ से वे सन्तुष्ट नहीं होंगे। आज एकाधिकारी पूँजीपतियों की जीत हुई है! जंजीर में जकड़ा मजदूर फ़ाँसी के फन्दे पर चढ़ रहा है क्योंकि उसने आज़ादी और हक़ के लिए आवाज़ उठाने की हिम्मत की है।

मेरी प्रिय पत्नी, मुझे तुम्हारे लिए और हमारे छोटे-छोटे बच्चों के लिए अफ़सोस है। मैं तुम्हें जनता को सौंपता हूँ, क्योंकि तुम आम लोगों में से ही एक हो। तुमसे मेरा एक अनुरोध है ज़ुल्म मेरे न रहने पर तुम जल्दबाज़ी में कोई काम नहीं करना, पर समाजवाद के महान आदर्शों को मैं जहाँ छोड़ जाने को बाध्य हो रहा हूँ, तुम उन्हें और ऊँचा उठाना।

मेरे बच्चों को बताना कि उनके पिता ने एक ऐसे समाज में, जहाँ दस में से नौ बच्चों को गुलामी और ग़रीबी में जीवन बिताना पड़ता है, सन्तोष के साथ जीवन बिताने के बजाय उनके लिए आज़ादी और खुशी लाने का प्रयास करते हुए मरना बेहतर समझा। उन्हें आशीष देना; बेचारे छौने, मैं उनसे बेहद प्यार करता हूँ। आह, मेरी प्यारी, मैं चाहे रहूँ या न रहूँ,

हम एक हैं। तुम्हारे लिए, जनता और मानवता के लिए मेरा प्यार हमेशा बना रहेगा। अपनी इस कालकोठरी से मैं बार-बार आवाज़ लगाता हूँ : आज़ादी! इन्साफ़! बराबरी!

अल्बर्ट पार्सन्स  
कुक काउण्टी बास्तीय जेल,  
कोठरी नं. 29, शिकागो, 20 अगस्त, 1886  
.....

## अल्बर्ट पार्सन्स का अपने बच्चों के नाम पत्र

मेरे प्यारे बच्चों!

अल्बर्ट आर. पार्सन्स (जूनियर) और बेटा लुलु एडा पार्सन्स, मैं ये शब्द लिख रहा हूँ और मेरे आँसू तुम्हारा नाम मिटा रहे हैं। हम फिर कभी नहीं मिलेंगे। मेरे प्यारे बच्चों, तुम्हारा पिता तुम्हें बहुत प्यार करता है। अपने प्रियजनों के प्रति अपने प्यार को हम उनके लिए जीकर प्रदर्शित करते हैं और जब आवश्यकता होती है तो उनके लिए मरकर भी। मेरे जीवन और मेरी अस्वाभाविक और वरु मृत्यु के बारे में तुम दूसरे लोगों से जान लोगे। तुम्हारे पिता ने स्वाधीनता और प्रसन्नता की वेदी पर अपनी बलि दी है। तुम्हारे लिए मैं एक ईमानदारी और कर्तव्यपालन की विरासत छोड़े जा रहा हूँ। इसे बनाये रखना, और इसी रास्ते पर आगे बढ़ना। अपने प्रति सच्चे बनना, तभी तुम किसी दूसरे के प्रति भी कभी दोषी नहीं हो पाओगे। मेहनती, गम्भीर और हँसमुख बनना। और तुम्हारी माँ! वह बहुत महान है। उसे प्यार करना, उसका आदर करना और उसकी बात मानना।

मेरे बच्चों! मेरे प्यारों! मैं आग्रह करता हूँ कि इस विदाई सन्देश को मेरी हरेक बरसी पर पढ़ना, और मुझमें एक ऐसे इन्सान को याद करना जो सिर्फ तुम लोगों के लिए ही नहीं बल्कि भविष्य की आने वाली पीढ़ियों के लिए कुरबान हुआ।

खुश रहो, मेरे प्यारों! विदा!

तुम्हारा पिता  
अल्बर्ट आर. पार्सन्स  
कालकोठरी नम्बर-7,  
कुक काउण्टी जेल, शिकागो, 9 नवम्बर, 1887

साभार : <https://mehnatkash.in/>

# क्या हम साहित्य से बहुत अधिक उम्मीद लगाए बैठे हैं?

अशोक वाजपेयी

//

*साहित्य अकेला और निहत्था है-बुद्धि-ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों से समर्थन और सहचारिता नहीं मिल पा रहे हैं पर कायर और चतुर चुपियों के माहौल में उसे निडर होकर आवाज़ उठाते रहना चाहिए. वह बहुत कुछ बचा नहीं पाएगा पर उससे ही अंतःकरण, निर्भयता और प्रतिरोध की शक्ति बचेगी.*

हम एक ऐसे अभागे समय में रह रहे हैं कि जिन लोगों, शक्तियों, संस्थाओं से हमने उम्मीद लगाई कि वे हमारी स्वतंत्रता की रक्षा करेंगे, हमारी समता-न्याय और भाईचारे की आकांक्षा को विचार में लेकर सकर्मक होंगी, उन सबने हमें सिरे से निराश किया है। आज जो स्थिति है उसमें हम राजनीति, धर्म, मीडिया आदि से कोई उम्मीद नहीं बांधते। बहुसंख्यकतावाद के सामने लगभग आत्मसमर्पण कर चुके अनेक संवैधानिक संस्थानों से भी उम्मीद लगाना बेकार हो गया है।

ऐसे में तर्क तो यह बनता है कि साहित्य से भी उम्मीद लगाना व्यर्थ है क्योंकि वह भले आज कुछ वांछनीय मानवीय मूल्यों के पक्ष में खड़ा है, वह उस समाज में ज्यादा कुछ नहीं कर सकता जिसमें झूठ-घृणा-हिंसा-हत्या आदि इतने लोकप्रिय और लोकव्यापी हो गए हों जितना आज भारतीय समाज में। दूसरी ओर, यह भी सही और स्वाभाविक है कि हम उम्मीद उसी से लगाते हैं जिस पर हमें भरोसा हो।

हमारे समय की कई क्षतियां हैं। पहली लोकतांत्रिक मानस, उससे संभव संवाद और असहमति की जगह का हाशिये पर फेंका जाना। दूसरी संवाद-विवाद-असहमति के पारंपरिक और लोकतांत्रिक मंचों का लगातार अवमूल्यन और निष्क्रियता। तीसरी सार्वजनिक संवाद की भाषा का लगातार प्रदूषण और विदूरूप। चौथी, निजता में सार्वजनिकता की

लगातार घुसपैठ से उपजी अराजकता और असन्तुलन। पांचवीं, हर तरह की मर्यादा का, फिर वह कानून की हो, संविधान की हो, सामान्य शिष्टाचार और भद्रता की हो, बेशरम उल्लंघन। छठवीं, हर कुछ को संदिग्ध बनाने की मुहिम। सातवीं, झूठ और पाखंड का इतना और इतनी तेजी से फैलाव कि सच-सचाई आदि के लिए जगह और अवसर ही न बचे। एक तरह की किंकर्तव्य-विमूढ़ता दृश्य पर हावी है।

इन क्षतियों की भरपाई कौन कर सकता है? हमारा ध्यान साहित्य और कलाओं की ओर, इस सिलसिले में, जाना तर्कसंगत है।

हम जानते हैं कि कई बार, जैसे नाजी वर्चस्व के चलते, संस्कृति तक ने धर्मादि ने मानवीयता के साथ विश्वासघात किया पर साहित्य ने नहीं। हमें यह भी याद है कि बुद्धि और सृजन के क्षेत्र में, साहित्य-ज्ञान-कलाओं में हम राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होने के बहुत पहले स्वतंत्र हो गए थे। सौभाग्य से, इस समय भी साहित्य सच-सचाई, स्वतंत्रता-समता-न्याय के मूल्यों, सहानुभूति और पारस्परिकता के साथ और घृणा-पाखंड-झूठ आदि के विरोध में है। इसलिए उससे हम कुछ ज्यादा ही उम्मीद लगाने लगे हैं।

शायद इस मुकाम पर कुछ ठिठक-थमकर हमें या सोचना चाहिए कि हम अपना बहुत सारा बोझ साहित्य पर डालकर उसका काम बहुत कठिन और अभिशप्त तो नहीं बनाए दे रहे हैं? क्या राजनीति की सर्वग्रासिता और पाखंड, धर्मों की बढ़ती

अध्यात्म-शून्यता, मीडिया की सत्ता-भक्ति, बहुसंख्यक घृणा और अल्पसंख्यक लाचारी, दुर्लभ होता न्याय, भ्रष्टाचार का बढ़ता राज, सामाजिक विषमता में बढ़ती आदि का कोई प्रतिकार, कोई क्षतिपूर्ति साहित्य कर सकता है?

इतनी सारी अपेक्षाएं, दुर्दिनों में भी, साहित्य से करना अतिचार लग सकता है और कइयों को, जिसमें स्वयं कुछ लेखक भी हो सकते हैं, यह साहित्य की क्षमता से बाहर या दूर लग सकता है।

मुझे याद आता है कि लगभग दो दशक पहले एक इंटरव्यू में मैंने नोबेल पुरस्कार प्राप्त पोलिश कवि चेश्वाव मीवोष से पूछा था कि 'क्या कविता ने किसी टिकाऊ और महत्वपूर्ण अर्थ में, पारंपरिक धर्म का स्थान ले लिया है, सत्यों की उसकी पहुंच में और राहत और नैतिक निवारण दे सकने की उसकी क्षमता में?'

उनका उत्तर था : 'नहीं, कविता धर्म का स्थान नहीं ले सकती। धर्म को कविता से स्थानापन्न करने की वृत्ति

रही है। 'कविता द्वारा धर्म का स्थानापन्न बनाना स्वयं कविता के लिए खतरनाक है। क्योंकि यह कविता को बहुत ऊंची जगह पर बैठा देता है।'

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि हमारे समय में साहित्य को कुछ अधिक बोझ उठाना पड़ सकता है, उठा सकना चाहिए। सच और सचाई का आज वह सबसे भरोसेमंद शरण्य है उसे कह सकने की हिम्मत करने वाला। वह गवाह है और पहरेदार भी। रक्षक भी। यह उम्मीद हमें करनी ही पड़ेगी कि साहित्य हमें निराश नहीं करेगा।

साहित्य अकेला और निहत्था है, बुद्धि-ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों से आज उसे समर्थन और सहचारिता नहीं मिल पा रहे हैं। पर कायर और चतुर चुप्पियों के माहौल में उसे निडर होकर आवाज उठाते रहना चाहिए। वह बहुत कुछ को बचा नहीं पाएगा पर उससे ही अंतःकरण, निर्भयता और प्रतिरोध की शक्ति बचेगी। शायद भाषा में मानवीयता और ऊष्मा उसके किए से बचेगी। इतना भी कम नहीं होगा।

## अलख

अलख कबीर का प्रिय शब्द था : उनके यहां उसके कई अर्थ भी हैं। पर अगर उसके एक अर्थ 'अनदेखा' तक हम, फिलमुकाम, सीमित करें तो यह स्पष्ट होगा कि हमारे समय और समाज में, आत्म और सृजन-चिंतन में ऐसे पूर्वाग्रह बद्धमूल हैं कि बहुत-सा हमसे अनदेखा रह जा रहा है। वह अनदेखा हमारी मानवीयता को भी सीमित कर रहा है।

एक स्तर पर वह उस चतुर और कायर खामोशी के कारण भी है : हम अनदेखा कर रहे हैं क्योंकि हम देखने से डरने लगे हैं या डर के मारे संकोच में पड़ जाते हैं।

इतनी सारी क्रूरता-नृशंसता-हिंसा-हत्या-अनाचार हमारी आंखों की सामने हर रोज लगभग नियमित रूप से हो रहे हैं और हम उनसे उदासीन हैं, उन्हें अनदेखा कर रहे हैं क्योंकि हमारी सहज नैतिकता अब, जाने-अनजाने, समझौते करने लगी है, इस हद तक कि वह लगभग निष्क्रिय और निष्प्राण हो गई है।

ऐसा नहीं है कि हमारे देखने के उत्साह में कोई कटौती हुई है। आज तो हम हर दिन मीडिया पर, अन्यत्र इतना कुछ, बिना थके और ऊबे, लगातार देख रहे हैं। इस देखे के छलावों में हम चाहे-अनचाहे आए जा रहे हैं। हम झूठ के अनेक रूप और स्तर देख रहे हैं। हम हिंसा और हत्या, बलात्कार और अत्याचार देख रहे हैं। हम फैल रही घृणा और उकसाए जा रहे भेदभाव को अलक्षित नहीं कर रहे हैं।

पर इतना सब देखने के बाद भी हम अविचलित हैं, कुछ फुरफुरी, कुछ सनसनी हमें होती है और जल्दी ही शांत हो जाती है। हम अपना दर्द तो सबको दिखाना चाहते हैं पर दूसरों का दर्द हमें नहीं सालता। अगर इस सबसे हमारी मानवीयता घट रही है तो हमें विशेष चिंता या बेचैनी नहीं है, हम इस संतोष में जी रहे हैं कि हम तो सुरक्षित हैं।

यह जो अलख है वह हमारे पड़ोस में है, हम जो लख रहे हैं वह भी हमारे घर-पड़ोस में है। दोनों ही, दुर्भाग्य से, हमें बता रहे हैं कि इस दौरान हम कुछ कम मनुष्य, कुछ कम इंसान होते जा रहे हैं।

पुण्यतिथि

# मौलाना हसरत मोहानी : दरवेशी ओ इंकलाब है मसलक मेरा

कृष्ण प्रताप सिंह

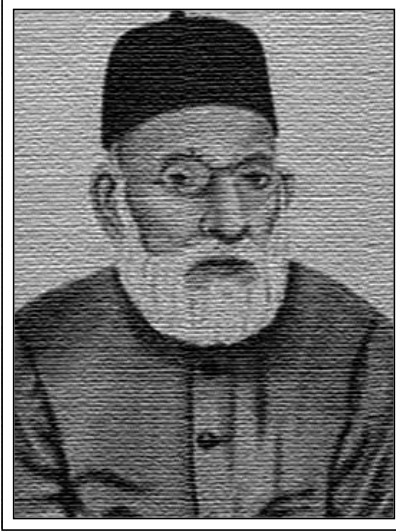
//

**‘मुकम्मल आज़ादी’ और ‘इंकलाब जिंदाबाद’ का नारा बुलंद करने वाले हसरत मोहानी के बारे में डॉ. आंबेडकर कहते थे कि वही एकमात्र ऐसे नेता हैं जो समानता का ढोंग करने के बजाय अपने हर आचरण में उसे बरतते हैं।**

जो एक पतली सड़क उन्नाव से मोहान जाती है, वहीं हसरत के ख्वाबों को भटकता छोड़ आए हैं। यकीं आता नहीं, लगता है कच्ची नौद में शायद, हम अपना घर-गली अपना मुहल्ला छोड़ आए हैं।

अवध के हरदिलअजीज शायर मुनव्वर राना द्वारा अपने बहुचर्चित ‘मुहाजिरनामा’ में लिखी गई ये पंक्तियां बताती हैं कि स्वतंत्रता संघर्ष के अलबेले नायक और अपने वक्त के मशहूर शायर मौलाना हसरत मोहानी (01 जनवरी, 1875-13 मई, 1951) आज भी न सिर्फ हमारे देश में बल्कि इसकी सीमाओं के पार भी एक कसक का नाम बने हुए हैं, बल्कि ऐसे अरमानों का नाम भी हैं, जिनके बारे में एक शायर के शब्द उधार लेकर कहें तो बहुत निकले लेकिन फिर भी कम निकले।

यह और बात है कि हमारी सामाजिक कृतघ्नता ने 1951 में उनके दुनिया से जाते ही उनकी यादों पर राख



डालने की कवायदें शुरू कर दी थीं। लेकिन जैसा कि स्वतंत्रता आंदोलन का सच्चा इतिहास संजोने और क्रांतिकारी आंदोलन का दस्तावेजीकरण करने के कामों के प्रति समर्पित लेखक सुधीर विद्यार्थी ने लिखा है, इसके बावजूद मोहानी ‘गुमनाम’ होकर नहीं रह गए हैं तो कारण यह कि 1921 में उनके द्वारा दिए गए ‘इंकलाब जिंदाबाद’ के कालजयी नारे ने (जो समूचे क्रांतिकारी आंदोलन की ऊर्जा तो हुआ ही करता था, भगत सिंह व बटुकेश्वर दत्त ने आठ अप्रैल, 1929 को उसे ही लगाते

हुए बहरे सत्ताधीशों के कानों तक अपनी आवाज पहुंचाने को सेंट्रल असेंबली में बम फेंके और बाद में राजगुरु व सुखदेव के साथ भगत सिंह ने बेखौफ होकर फांसी के फंदे को चूम लिया था।) सौ साल की उम्र पूरी कर लेने के बाद भी अपनी आभा रंज भी नहीं खोई है।

बात इतनी-सी ही नहीं है। मोहानी की जिंदगी ने

स्वतंत्रता संघर्ष से संविधान निर्माण तक के दौर में अपने दो टूक विचारों व संघर्षों से देश की राजनीति पर इतना गहरा असर डाला कि उनका विस्मरण त्याग व सिद्धांतों की राजनीति की एक समूची परंपरा का विस्मरण हो जाता है।

गौरतलब है कि उन्होंने इस परंपरा को स्वतंत्रता संघर्ष में अपनी अनूठी सक्रियता से तो समृद्ध किया ही, 1946 में उत्तर प्रदेश से संविधान सभा के सदस्य चुने जाने पर भी किया। इसे यूं भी समझ सकते हैं कि संविधान सभा में अपनी तीन साल की सेवाओं के बदले महज एक रुपया मेहनताना लेने वाले वे उसके इकलौते सदस्य थे। यह एक रुपया भी कहते हैं कि उन्होंने पं. जवाहरलाल नेहरू के बहुत आग्रह करने पर लिया था, अन्यथा उसे मुल्क की खिदमत मानकर अपनी 'गरीबी में खुश' थे।

इतना ही नहीं, उन्होंने अपने पूरे जीवन में कभी वीआईपी बनने की चाह नहीं पाली, न ही सरकार से इस तरह की कोई सुविधा ली। लंबी-लंबी यात्राएं भी वे रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में ही किया करते थे और संविधान बन गया तो उन्होंने यह कहते हुए उस पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया था कि वह मजदूरों व किसानों के हकों की पूरी रهنुमाई नहीं करता।

यह तब था जब संविधान निर्माण में बड़ी भूमिका निभाने वाले बाबासाहब डॉ. भीमराव आंबेडकर कहते थे कि वही एकमात्र मोहानी ही ऐसे नेता हैं जो समानता का ढोंग करने के बजाय अपने हर आचरण में उसे बरतते हैं। बाबासाहब प्रायः उनके मेहमान हुआ करते थे।

वैसे राजनेता होना मोहानी के बहुआयामी व्यक्तित्व का, जिसमें साहित्य और राजनीति का अद्भुत संगम था, सिर्फ एक आयाम था। वे अवध की गंगा-जमुनी तहजीब के प्रतिनिधि शायर, उर्दू की प्रगतिशील गजल धारा के प्रवर्तक, शायरी में महिलाओं के ऊंचे मुकाम के हामी, अरबी व

**मोहानी अवध की गंगा-जमुनी तहजीब के प्रतिनिधि शायर, उर्दू की प्रगतिशील गजल धारा के प्रवर्तक, शायरी में महिलाओं के ऊंचे मुकाम के हामी, अरबी व फारसी के उद्भट विद्वान, हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर और देश के बंटवारे के विकट विरोधी के रूप में जाने जाते थे।**

फारसी के उद्भट विद्वान, हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर और देश के बंटवारे के विकट विरोधी के रूप में जाने जाते थे।

हां, वे इंकलाब की ही नहीं, इश्क और मुहब्बत की शायरी भी करते थे। उनकी ऐसी कई गजलें फिल्मी परदे पर भी नजर आईं, जिनमें कम से कम एक

उनकी पहचान के साथ जुड़ गई है, चुपके-चुपके रात दिन आंसू बहाना याद है, हमको अब तक आशिकी का वो जमाना याद है।

दिलचस्प यह कि उन्होंने यह गजल अपनी छह साल की जेल-यातनाओं के बीच अपने महबूब की याद में लिखी थी। अपने जीवन में वे जिन तीन 'एम' को सबसे महत्वपूर्ण बताते थे, उनमें मक्का और मॉस्को के साथ कृष्ण की मथुरा भी हुआ करती थी। साफ है कि कृष्ण पर वे अति की हद तक फिदा थे। उन्होंने 1919 के खिलाफत आंदोलन में भी हिस्सा लिया था।

उनके निजी जीवन पर जाएं, तो उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में मोहान कस्बे में एक सैयद परिवार में जन्म के वक्त माता-पिता ने उन्हें फजलुलहसन नाम दिया था और बाद में शायरी के लिए उन्होंने 'हसरत मोहानी' उपनाम अपनाया। उनके छात्र जीवन में ही हुई डौडिया खेड़ा के राजा राव रामबक्श सिंह की शहादत का उन पर ऐसा असर हुआ कि वे आजादी के इंकलाबी सिपाही बन गए और कॉलेज से निष्कासन समेत कई क़रूर दंड भोगे। लेकिन शिक्षा पूरी हो गई तो भी इंकलाब का रास्ता बदलना गवारा नहीं किया।

1903 में उन्होंने अलीगढ़ से 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नाम का उर्दू का ब्रिटिश हुक्मरानों का कट्टर आलोचक राजनीतिक-साहित्यिक पत्र निकाला तो उसे आजादी के दीवाने साहित्यकारों व नेताओं का खुला मंच बना दिया। 1907 में उनकी एक टिप्पणी से चिढ़ी गोरी सरकार ने उन्हें दो साल की कैद-ए-बामशक़्त की सजा दिलाई तो उन्हें परेशान करने के लिए

जेल में उनसे रोज एक मन गेहूं पिसवाया जाता था।

फिर भी उन्होंने विचलित हुए बिना लिखा है मशक ए सुखन जारी चक्की की मशकत भी, इक तुफा तमाशा है 'हसरत' की तबीयत भी गोरी सरकार की आंखों में खटकने के कारण आगे 1914 और 1922 में भी उन्हें जेल जीवन जीना पड़ा।

मोहानी के जीवन का संभवतः सबसे महत्वपूर्ण क्षण 1921 में आया, जब वे अहमदाबाद कांग्रेस में मुकम्मल आजादी (पूर्ण स्वराज्य) का प्रस्ताव ले आए। चूंकि तब तक मुकम्मल आजादी कांग्रेस के सपने में ही नहीं थी, इसलिए उसने उसे स्वीकार करने से मना कर दिया। महात्मा गांधी ने तो उसको 'गैरजिम्मेदारी की बात' तक बता डाला।

जानकारों की मानें, तो मोहानी को अपने प्रस्ताव के इस हथ्र का पहले से अंदाजा था, लेकिन उनका प्रगतिशील सोच उनकी जोखिम उठाने की प्रवृत्ति से मिलकर उनसे आगे भी ऐसे दुस्साहसिक कदम उठवाता रहा।

यहां जानना जरूरी है कि कांग्रेस के सबसे बड़े नायक (महात्मा गांधी) के विरोध के चलते मुकम्मल आजादी का उनका प्रस्ताव आगे तो नहीं बढ़ पाया, लेकिन उसे एक तिहाई वोट मिले थे। फिर आठ साल बाद ही सही, 26 दिसंबर, 1929 को कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास करना और 26 जनवरी, 1930 को पूर्ण स्वराज्य दिवस घोषित करना पड़ा था।

मोहानी कांग्रेस के उन गिनती के नेताओं में थे, जो महात्मा गांधी से अपनी असहमतियां छिपाते नहीं थे। असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो सारी विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के महात्मा के आह्वान के विपरीत मोहानी चाहते थे कि सिर्फ ब्रिटेन की वस्तुओं का बहिष्कार किया जाए, क्योंकि लड़ाई अंततः ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ही है। लेकिन कांग्रेस ने उनकी यह बात भी नहीं ही मानी थी।

मानती भी क्यों, उसके साथ उनके स्वीकार व नकार के मिले-जुले संबंध थे। वे उसके स्वदेशी आंदोलन के तो पुरजोर समर्थक थे—उसकी नींव की ईंट भी, लेकिन अहिंसा में उनका विश्वास महात्मा गांधी जैसा अगाध नहीं था और वे चाहते थे कि स्वतंत्रता के आंदोलनकारियों पर अहिंसक

रहने की पाबंदी न लगाई जाए। इसके उलट उन्हें परिस्थिति व जरूरत के अनुसार साधन चुनने व कदम उठाने को आजाद रखा जाए।

महात्मा के चरखे को लेकर तो उनका एतराज यहां तक था कि उन्होंने शेर ही रच डाला था—गांधी की तरह बैठ के क्यों कातेंगे चर्खा, लेनिन की तरह देंगे न दुनिया को हिला हम!

बकौल सुधीर विद्यार्थी एक समय दिल्ली का बल्लीमाराण इलाका हसरत मोहानी का मुकाम हुआ करता था। वे तब लेखन में खूब मशगूल थे और नई दिल्ली में संसद भवन के सामने स्थित जामा मस्जिद में गर्म तकरीरें किया करते थे। पर वे दुनियावी अर्थ में मौलाना नहीं थे। वे उन चंद मुस्लिमों में से थे, जिन्होंने कांग्रेस को अपनाया था। फिर भी उसमें होने और बने रहने की उनकी अपनी शर्तें थीं। वे बहुत सख्त मिजाज और धुन के पक्के थे। इतने कि कई बार वे गांधी और कांग्रेस की नीतियों के विरोध में तनकर खड़े हो जाते थे।

1907 में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में नरम व गरम दलों में टकराव के बाद वे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के साथ हो गए, जो एक तरह से कांग्रेस से उनका अलगाव था। फिर तो वे कांग्रेस के नरमदलियों और मुस्लिम लीगियों दोनों को गोरे हुक्मरानों का तरफदार मानने लगे थे। तिलक के साथ जाने का रास्ता इसलिए चुना था, क्योंकि तिलक भी उन्हीं की तरह मुकम्मल आजादी के समर्थक थे और 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा देते थे।

मोहानी रूस की आठ मार्च, 1917 की साम्यवादी क्रांति से बहुत प्रभावित थे और 1925 में सत्यभक्त के साथ मिलकर उन्होंने कानपुर में देश की पहली कम्युनिस्ट कॉन्फ्रेंस में नींव की ईंट वाली भूमिका निभाई थी।

अपने एक शेर में उन्होंने अपना परिचय इस रूप में दिया है— दरवेशी ओ इंकलाब है मसलक मेरा, सूफी मोमिन हूं इशतरारी मुस्लिम। उनके इस परिचय में उनके स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, पत्रकार, संपादक और शायर आदि के सारे परिचय समाहित हैं।

साभार : <https://thewirehindi.com/>

## 22 • समरथ

अप्रैल-जून, 2023

# नदी सिंदूरी

सरस्वती रमेश

//

साहित्य में गांव की अच्छाइयां और कमियों पर लिखने वाले कलमकारों की कमी नहीं है, मगर नए लेखकों में गांव के वास्तविक रूप को लिखने वाले लेखक अब गिने-चुने ही मिलेंगे। हमारे देश के गांव कोई सामान्य जगहें नहीं हैं। इसके बावजूद कि अब गांव का रूप विकृत हुआ है, फिर भी गांव की मिट्टी में लोक-संस्कृति और समाज की अनगढ़ सभ्यताएं सदियों से आकार लेती रही हैं। ये सभ्यताएं भारतीय सभ्य समाज की मीनार में नींव का पत्थर बन टिकी रही हैं। लेकिन, इनका कोई परिष्कृत

इतिहास नहीं लिखा गया है। ये साहित्य के माध्यम से जब-तब लोगों से संवाद करती रही हैं और अपने रंग-ढंग से हम सबका परिचय कराती रही हैं। इस क्रम में शिरीष खरे की किताब 'नदी सिंदूरी' मील का पत्थर स्थापित करती है। गांव को बुनने के लिए जिन तंतुओं की दरकार होती है वे सारे तंतु इस पुस्तक में दर्ज किस्सों में मिलेंगे।

आमतौर पर हर भारतीय गांव के साथ एक छोटी या बड़ी नदी जुड़ी होती है। मदनपुर गांव भी नर्मदा की सहायक नदी सिंदूरी के तट पर बसा एक छोटा और सुंदर गांव है। लेकिन, सिंदूरी मदनपुर गांव की नदी भर नहीं है, वह गांव की दिनचर्या में बहता जीता-जागता अहसास है। जिसके इर्द-गिर्द बुनी गई हैं 'नदी सिंदूरी' की कथाएं। कथाएं जिनके अंदर गांव की मिट्टी में सनी प्रथाएं हैं, लोक है, व्यवहार है, स्वप्न है और गांव का वह भोला मानुष है जो कुछ ही समय बाद इस धरा पर दुर्लभ होने वाला है।

नदी सिंदूरी, जिसके किनारे लोकधुन पर थिरकती है एक गांव की अनूठी दुनिया। शिरीष खरे ने इस किताब में एकदम सहज और आडंबररहित भाषा का प्रयोग किया है जिससे कहानियों के फ्लो में कहीं कोई अड़चन नहीं आती। कहीं-कहीं अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग है जो गांव में पहुंची शहरी संस्कृति की झलक है।

'नदी सिंदूरी' के पात्र ठेठ देहाती बुद्धि वाले पात्र हैं, मगर इस देहाती शब्द से आप चकमा मत खाइए। इस देहात में आपको जो मिलेगा वह देश के दस बड़े शहरों में न मिलेगा। यहां सम्वेदनाओं का ज्वार है। एक स्वाभिमानी मास्साब हैं, एक महिला बस मालकिन है, एक कैलाश बांसुरी-वादक है, एक पीपलपानी वाली विरहणी है, एक कल्लो गाय है, दलित नायक बसंत है, एक अवधेश ढोलकिया है, एक लचकती कमर पर थाप मारकर नाचने वाला भूरा है और केंद्र में रामलीला है। ये सब गांव नाम की एक अजूबी दुनिया के अनोखे पात्र हैं। गांव की राजनीति की पेचीदगियां, समाजिक समीकरण, आर्थिक परिदृश्य और चोरी, बेईमानी, खून, नैतिकता-अनैतिकता और बहुत कुछ मिलेगा यहां।

कभी रामलीला भारतीय समाज के रंग-रंग में बहती लोककला मानी जाती थी। मनोरंजन के बढ़ते साधनों और डिजिटल युग ने इसकी चमक को फीका और समाज की रुचि को कम किया है। लेकिन, शिरीष खरे ने एक बार फिर रामलीला और उसके जादू की याद कहानी 'हम अवधेश का शुक्रिया अदा करते हैं' के जरिये दिला दी। कहानी रामलीला के बहाने अवधेश और भूरा के संबंध और उनके जीवन के सुख-दुख को बताती है। रामलीला के बहाने गांव का उबड़-खाबड़ समाज, उसके द्वंद्व, उसकी रुचि-अरुचि को भी दर्शाया गया है।

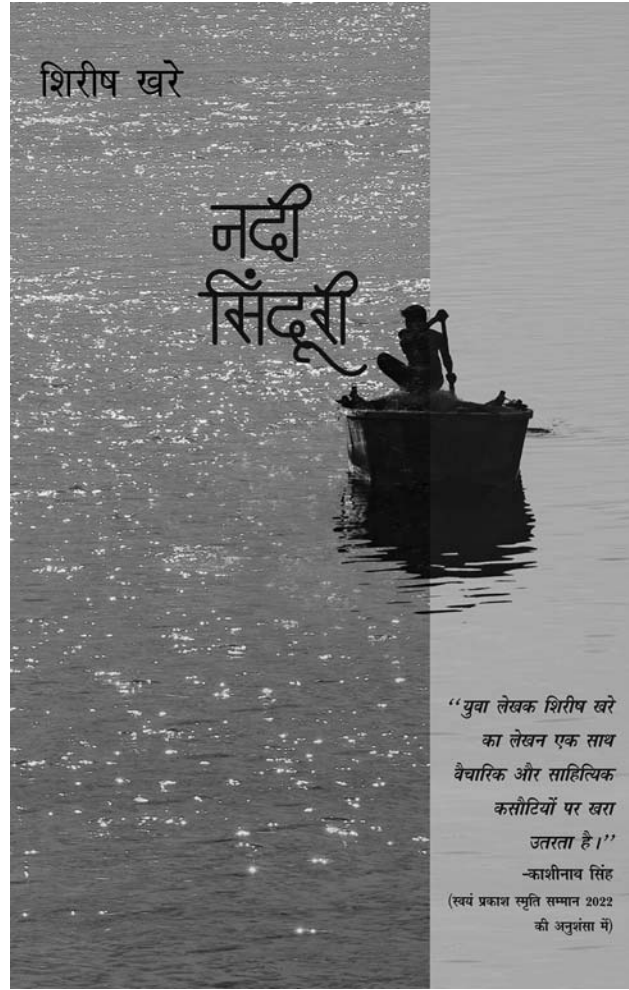
'कल्लो तुम बिक गई' एक बच्चे की गाय के प्रति

आत्मीयता और लगाव की कहानी है। लेकिन, नेपथ्य में एक सांस्कृतिक उजाड़ को भी दर्शाती है। कभी आंगन में खूटे से बंधी गाय, भैंस, बकरी हमारे जीवन और व्यवहार का हिस्सा हुआ करता था। जानवर हम पर बोझ नहीं थे बल्कि हमारे जीवन की गाड़ी का एक महत्वपूर्ण पहिया थे, मगर आधुनिकता की हवा ने पालतू और दुधारू जानवरों को कारपोरेट के हवाले कर दिया और आत्मीयता की वह डोर टूट गई, जिससे भारतीयता बंधी थी। अब हमारे बीच सिर्फ उत्पाद और उपभोग का रिश्ता बचा रह गया और इस बात को पुख्ता करती है एक अन्य कहानी, 'दूध फैक्ट्री से लाओ न'। लगता है कि बड़ा विचित्र समय आने

वाला है। नई पीढ़ी गाय-भैंस को अपने आसपास कहीं नहीं देखना चाहता है, मगर फैक्ट्रियों में इफरात दूध चाहता है।

'ऐसो कोई नही बोलो हमसे आज तक' महज कहानी नहीं है, गांव की मिट्टी में पनपे आदर्श की बानगी है। आदर्श जिसे सरल भाषा में लिहाज कहा जाता है। यादव मास्साब का गांव में लिहाज इतना है कि उन्हें कुछ कहने की दरकार नहीं, सिर्फ उनकी उपस्थिति भर से झगड़े सुलट जाते। यह मान ही मास्साब की जीवन-रेखा है। जिस दिन एक मनचले लड़के ने इस रेखा को लांघ मास्साब का अपमान किया उस दिन उनकी जीवन-रेखा भी समाप्त हो गई।

कहानी 'खूटा की लुगाई भी बह गई' एक मार्मिक प्रेमकथा है। खूटा के प्रेम में उसकी लुगाई पीपरपानी वाली



भटकती रही। पागलों की तरह उसकी प्रतीक्षा करती रही और अंत में खूटा में ही विलीन हो गई। किसी ग्लैमर, मिलन, गीत-संगीत का मोहताज नहीं है यह प्रेम कहानी, पीपरपानी वाली की हरकतों में उसका प्रेमभाव उमड़-उमड़ आता है।

'सात खून माफ़ है', 'हमने उनकी सर्ई में फाड़ दर्ई' और 'धन्ना तो बा की राधा संग गोल हो गयो' अनोखे चरित्र धारण करने वाले पात्रों की अद्भुत कहानियां हैं। ऐसी कहानियां जो पहले कभी नहीं सुनी गईं और शायद ही लिखी गई हों। अभय कुमार दुबे के शब्दों में, 'ऐसे अनोखे पात्र यदि रेणु को मिलते तो वह एक और 'मैला आंचल' लिख डालते।' शिरीष खरे ने इस किताब में एकदम सहज और

आडंबररहित भाषा का प्रयोग किया है जिससे कहानियों के फलों में कहीं कोई अड़चन नहीं आती। कहीं-कहीं अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग है जो गांव में पहुंची शहरी संस्कृति की झलक है। भावपूर्ण बातों को भावपूर्ण शब्दों के जरिये कहा गया है। आंचलिक बोली के प्रयोग ने कहानियों में आत्मा का सृजन किया है और इन्हें अधिक विश्वसनीय बनाया है। 'एक देश बारह दुनिया' जैसी किताब लिखकर लोकप्रिय हुए लेखक को यह किताब निश्चित रूप से और भी ऊंचाइयों तक ले जाएगी।

किताब : नदी सिंदूरी;

लेखक : शिरीष खरे;

प्रकाशक : राजपाल एंड संस

कीमत : 285/-

### इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए